

15.3

हरिश्चम के

राजनीतिक

दार्शनिक

उन द्वारा सम्पादित ग्यारह निबन्ध



अनुवादक
हरिश्चन्द्र विद्यालंकार

प्रकाशक

नेशनल एकाडमी
६, अंसारी मार्केट, दरियागंज, दिल्ली-६

प्रकाशक : नेशनल एकाडमी

६, अंसारी मार्केट, दरियागंज, दिल्ली-६.

प्रथम संस्करण : जून १९६५

द्वितीय संस्करण : अगस्त १९६८

मूल्य : एक रुपया

Hindi translation of
WESTERN POLITICAL PHILOSOPHERS

© Maurice Cranston 1964

originally published by

THE BODLEY HEAD LTD.

9, Bow Street, London WC 2

मुद्रक

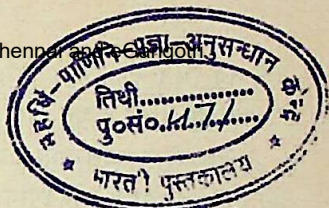
जयन्ती प्रिंटिंग वर्क्स,

जामा मस्जिद, दिल्ली-६

विषय-सूची

भूमिका	...	५
प्लेटो		
एण्टोनी फ्ल्यू		
अरस्तू		
के० वी० स्मेली		
ऐक्वाइनैस		
मॉरिस कैंस्टन		
माक्यावेली	...	४५
ग्रनैस्टो लैण्डी		
हॉब्ज	...	५५
जे० डब्ल्यू० एन० वाट्किन्स		
लॉक	...	६६
रिचर्ड पीटर्स		
रूसो	...	८३
वट्टैंड डी जूवेनेल		
बर्क	...	१०२
जे० एम० कैमरो		
हेगल	...	११७
एफ० सी० कोप्लेस्टन, एस० जे०		
माक्स	...	१२८
एलैसडेयर मैकइन्टायरे		
मिल	...	१४१
नोएल एमन		





भूमिका

यह पुस्तक पश्चिम के राजनीतिक दर्शनशास्त्र का इतिहास नहीं और पश्चिम की राजनीतिक विचारधारा का इतिहास तो यह कदापि नहीं। यह तो पश्चिम के ग्यारह प्रमुख राजनीतिक दार्शनिकों के विषय में किए गए संक्षिप्त विचार-विमर्शों को एक माला है। इसका प्रत्येक अध्याय भिन्न लेखक का लिखा हुआ है और सभी अध्यायों के लेखक (एक्वाइनस के विषय में लिखे गए अध्याय को छोड़कर) जाने-माने अधिकारी विद्वान हैं। ये निबन्ध इस उद्देश्य से लिखे गए हैं कि परिचय देने के साथ-साथ सामान्य पाठक के लिए, और साथ ही उन छात्रों के तथा व्यक्तियों के लिए भी आकर्षक रहें जिनकी राजनीतिक दर्शन में पहले ही कुछ रुचि है अथवा जो इस सम्बन्ध में कुछ जानने के लिए लालायित हैं। पुस्तक के अन्त में चुनी हुई ऐसी पुस्तकों की सूची दे दी गई है जो अनुशीलन में सहायक सिद्ध होगी।

ग्यारह विषयों का चुनाव मेरा अपना किया हुआ है और मुझे यह आशा नहीं रखनी चाहिये कि इस पर विवाद नहीं होगा। पुस्तक छोटी है; इसी कारण विषयों की संख्या भी कम है तथा पुस्तक छोटी उस माला के कारण है कि जिसमें यह प्रकाशित हुई है।

इस सम्बन्ध में जो एक-दो कर्त्तव्य पालन नहीं किये जा सके हैं, उनको उचित ठहराना शायद कठिन प्रतीत हो। दार्शनिक जेरेमी बेंथम को मैंने पहले तो लेना चाहा था परन्तु बाद में इसको छोड़ दिया। बेंथम पर विचार-विमर्श में व्यस्त विद्वानों से सलाह लेने के बाद मेरी यह सम्मति बन गई कि बेंथम के राजनीतिक सिद्धांत के विषय में उसके प्रकाशित साहित्य के आधार पर जो धारणा बन सकती है, लन्दन के यूनिवर्सिटी कालेज में उसकी अप्रकाशित पांडुलिपियों पर अब चल रहे शोधकार्य के कारण शायद उससे कुछ भिन्न धारणा बने; और जब तक

इस नये विचार की व्यवस्था करने है, फलतः उन पुराने विचारों को गिराने में सहायक होना उचित प्रतीत नहीं हुआ ।

कुछ पाठक, इस बात पर शायद, मुझे बुरा भला कहें कि मैंने वर्क को तो ले लिया है और स्पीनोज़ा को छोड़ दिया है । वर्क कोई व्यवसायी दार्शनिक नहीं था और स्पीनोज़ा था; दूसरे शायद ईसाई दार्शनिकों में आगस्टिन को न लेकर ऐक्वाइनैस को लेने के मेरे कार्य की आलोचना करें; और कुछ निःसन्देह यह पसन्द करते कि समाजवाद के प्रतिनिधि के रूप में मैं मार्क्स को न लेकर सेंट साइमन अथवा फेरियार अथवा प्रूदों को लेता । इन धारणाओं से सहानुभूति होते हुए भी मुझे तो यही प्रतीत होता है कि जो चुनाव मैंने किया है उसका समर्थन भी दूसरे चुनावों जितना ही किया जाना सम्भव है । 'मनमानी' व्यक्तिगत पसन्दगी का कुछ अंश रहना तो अनिवार्य ही है ।

पश्चिमी राजनीतिक दर्शन विज्ञान का एक विशेष लक्षण स्वतन्त्रता तथा आधिपत्य ('सत्ता' अथवा शासनाधिकार) की समस्या की स्थायी चर्चा करते रहना है । यह एक व्यापक धारणा बनी हुई है कि बड़े-बड़े पश्चिमी राजनीतिक पंडितों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है; एक वर्ग में उनकी गणना है जो स्वतन्त्रता के समर्थक हैं; दूसरे वर्ग में इसके विरोधियों के नाम हैं । इस दृष्टिकोण के अनुसार एक ओर तो अरस्तू, ऐक्वाइनैस, लॉक तथा मिल प्रभृति हैं तो दूसरी ओर, प्लेटो (अफ़लातून), माक्यावेली, हॉब्ज़, हेगल तथा वर्क के नाम हैं । परन्तु मैं समझता हूँ यह एक अविश्वसनीय दो-टुक विभाजन है; कल्पित भेड़ों को कल्पित बकरियों से पृथक् करने जैसा ऐसा कोई पृथक्-करण इस पुस्तक में नहीं किया गया है ।

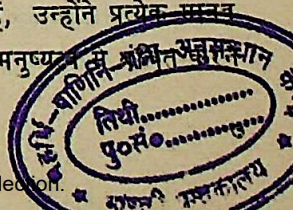
अरस्तू, ऐक्वाइनैस, लॉक तथा मिल को स्वतन्त्रता की जितनी चिन्ता थी, व्यवस्था की भी उतनी ही चिन्ता थी और इनमें से अत्यन्त उदारों ने उस सीमा को निश्चित करना शुरू कर दिया था कि जहां स्वतन्त्रता को एक दम रोक देना आवश्यक है । जैसे, जब लॉक कानून की परि-

भाषा स्वयं इन शब्दों में करता है कि कानून कुछ ऐसी वस्तु है जो स्वतन्त्रता को कुछ बढ़ावा देती है तो उसको हेगल की इस मान्यता का विरोधी नहीं कहा जा सकता कि स्वतन्त्रता कुछ ऐसी वस्तु है जिसको सम्पूर्ण बनाना राज्य का काम है ।

स्वतन्त्रता को किन अर्थों में लें, इस बात को लेकर पश्चिमी राजनीतिक दार्शनिकों में अनेक मतभेद रहे हैं; परन्तु उनमें और अधिकतर प्राच्य दार्शनिकों में एक अन्तर यह है कि पश्चिमी दार्शनिकों में से प्रायः सभी ने स्वतन्त्रता को एक निश्चित धारणा तथा महत्वपूर्ण वस्तु समझ कर उस पर विचार किया । अरस्तू, रूसो और हेगल सरीखे दार्शनिकों की दृष्टि में केवल उसी व्यक्ति को स्वतन्त्र माना जा सकता है जो वह काम करता है, जो उसे करना चाहिये; हॉब्स, लॉक तथा मिल प्रभृति ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि प्रतिबन्धरहित दुष्टजन भी सज्जन जितना ही स्वतन्त्र है और यह कहा कि स्वतन्त्रता सद्गुण की प्रारम्भिक शर्त तो है परन्तु यह सद्गुण से पृथक् कोई वस्तु नहीं है ।

मनुष्य कई प्रकार की स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर सकता है । हॉब्स, लॉक और मिल की प्रबल अभिलाषा यह रही कि किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता में उसके पड़ोसी अथवा शासक का हस्तक्षेप न हो अर्थात् उनको सबसे अधिक चिन्ता व्यक्ति की स्वतन्त्रता की थी । परन्तु अरस्तू, रूसो तथा हेगल सरीखे लेखकों को अधिक चिन्ता मनुष्य की स्वतन्त्रता के 'स्वरूप' की थी । इस विषय में उनकी चिन्ता उन धार्मिक लेखकों की-सी थी जिनकी मुख्य अभिरुचि किसी व्यक्ति की आत्मा की उन्नति तथा उसकी पूर्णता होती है ।

धर्मशास्त्रों में बताया है कि परमात्मा की सेवा ही पूर्ण स्वतन्त्रता है । परन्तु ध्यान रहे कि यह अकेली किस्म की ही स्वतन्त्रता नहीं है अपितु सर्वोत्तम प्रकार की स्वतन्त्रता का नाम है; और जो दार्शनिक यह कह चुके हैं कि केवल सज्जन ही स्वतन्त्र होते हैं, उन्होंने प्रत्येक मानव प्राणी के भीतर विद्यमान अप्रतिष्ठाकारक तथा मनुष्यत्व में अहित



वाले प्रभावों की अपेक्षा व्यक्ति की बाहरी प्रभावों से मुक्ति की प्रायः कम चिन्ता की है। धार्मिक बोलचाल में उनका लक्ष्य आत्मा को भौतिक बलात्कार से मुक्त करना रहा है; अधिक दार्शनिक शब्दों में कहें तो, विवेकशील मानव को मनोवेगों की कैद से मुक्त करना है।

स्वतन्त्रता-विषयक कल्पनाओं के इन मुख्य प्रकारों में कोई वैरभाव अथवा संघर्ष हो, यह आवश्यक नहीं है। एक यदि वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर केन्द्रित है तो दूसरा आत्मिक स्वतन्त्रता पर केन्द्रित है। यह कहा जा सकता है कि सुखी अथवा पूर्ण मनुष्य वह है जो इन दोनों प्रकार की स्वतन्त्रताओं का स्वामी है। यह सोचना भूल होगी कि किसी एक प्रकार की स्वतन्त्रता ही सच्ची स्वतन्त्रता है तथा दूसरी बनावटी है। क्योंकि स्वर्ग की तरह स्वतन्त्रता भी एक बहुत-सी कोठरियों वाला भवन है; और मानव की स्वतन्त्रता का समूचा इतिहास तब तक लिखा जाना वस्तुतः असम्भव ही है जब तक कि मानव को क्रमशः उसके आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, मानव-विज्ञान विषयक तथा मनोविज्ञान सम्बन्धी भिन्न-भिन्न पहलुओं से देखते हुए उसका पूरा इतिहास न लिखा जाय; क्योंकि मनुष्य इन सभी अर्थों में स्वतन्त्र अथवा अस्वतन्त्र तथा बहुत ही विविध प्रकारों से और विविध मात्राओं में स्वतन्त्र हो सकते हैं।

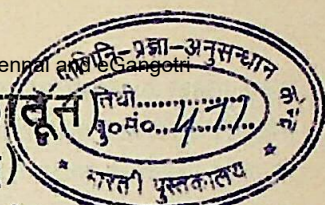
स्वतन्त्रता की समस्या से दूसरी समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। मैं कानून को क्यों मानूँ? न्याय क्या है? राज्य क्या होता है तथा इसमें तथा दूसरी संस्थाओं में क्या अन्तर है? राजनीतिक सभा-संस्थाएं स्वाभाविक हैं अथवा उनका आधार कोई अनुबन्ध है? प्रभुसत्ता का आधार क्या है? प्रशासन में प्रतिनिधित्व कितना हो सकता है? 'सहमति' का अर्थ क्या है? इसी प्रकार के प्रश्नों पर दार्शनिकों ने विचार-विमर्श किया है और स्वतन्त्र सभ्यता का यह एक चिह्न ही है कि साधारण स्त्री-पुरुषों के मन में भी ऐसे प्रश्न उठें और वे उनकी चर्चा करें।

लन्दन, मार्च, १९६४

मॉरिस क्रैस्टन

प्लेटो (अफलातून)

(एण्टोनी फ्लू)



प्लेटो (अथवा अफलातून) वह धनीमानी तथा सम्पन्न व्यक्ति था जिसका जन्म तथा पालन-पोषण मानो राजनीतिक नेतृत्व के लिए ही हुआ था। उसके अपने नगर एथन्स में हुई क्रांति में तथा क्रांति-विरोधी क्रांति में की गई हिंसा तथा अन्याय के कारण उसे व्यावहारिक राजनीति से पृथक् हो जाना पड़ा। अपने इस अनुभव की बात सोचते-सोचते, उसने (तेईस सौ से अधिक वर्ष हुए) आदर्श राज्य की अपनी पहली कल्पना कर डाली। स्वप्नलोक के प्रत्येक दूसरे लेखक पर इस कल्पना का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। यह कल्पना 'दि रिपब्लिक' ('प्रजातन्त्र') नाम के एक संवाद में दी गई है; इस संवाद में प्लेटो ने अपने प्राचीन गुरु सुकरात के माध्यम से 'कैलिपोलिस' अर्थात् 'भव्य नगर' का वर्णन किया है। प्लेटो की दृष्टि में यह नगर सदा आदर्श बना रहा; उसकी अपूर्ण रचना 'दि लाज' ('नियम') में भी उसका यही आदर्श रहा—इस रचना में उसने एक अधिक निर्भय, (स्पार्टन) दूसरे नम्बर के सर्वश्रेष्ठ मनुष्य के लिए उपयुक्त नियमों का विधान किया है।

'दि रिपब्लिक' के लेखक के दृष्टिकोण से, 'दि रिपब्लिक'—ग्रन्थ में न्याय के स्वरूप की मीमांसा की गई है और यह दिखलाने का यत्न किया गया है कि न्यायी होना न्यायी मनुष्य के लिए लाभदायक है। परन्तु सुकरात इस बात पर बल देता है कि नगर राज्य, मानो बड़े आकार में अंकित नागरिक ही हो। परिणामतः सारी सृष्टि में व्यापक विश्व में, न्याय को पहचान लेना अधिक सरल रहेगा। इसीलिए वह अपने आदर्श का वर्णन आरम्भ कर देता है। निस्सन्देह, यह 'सुकरात', इतिहास का 'सुकरात' हो, यह आवश्यक नहीं है।

राज्य का निर्माण इस तथ्य के कारण होता है कि कोई भी आत्म-निर्भर नहीं रह सकता—निस्सन्देह यहां वह एक एकाधिपति नगर को ही

राज्य मानता है; किसी साम्राज्य अथवा राष्ट्रीय राज्य को राज्य नहीं मानता। इसके बाद वह शीघ्र ही अपने आधारभूत सिद्धान्तों में से एक, जन्मजात विभेदों के आधार पर अत्यन्त सुदृढ़ विशिष्टीकरण का निरूपण करने लगता है, अर्थात् "जैसा कि प्रकृति का नियम है, प्रत्येक को अपना निजि काम ही करना चाहिए; एक मनुष्य और एक काम का सिद्धान्त" (४३५ ख)। वह साथ-साथ वसे, प्रकृति के अनुसार जीवन-यापन करने वाले विशेषज्ञ किसानों तथा शिल्पियों के एक समाज के सादे जीवन की रूपरेखा अंकित करता है। वस्तुतः यह एक स्वस्थ समाज होगा, यदि हमें आधुनिक जीवन की सामान्य शिष्टताओं के भोक्ता, कुछ अधिक विलासमय राज्य को उपलब्ध करना है तो फिर उसको बहुत अधिक बड़ा बनाना होगा। इसमें सभी प्रकार के नये-नये विशेषज्ञों, सबसे बढ़कर योद्धाओं की, एक सेना को सम्मिलित करना होगा। इन सबकी राज्य को इसलिए आवश्यकता होगी कि पड़ौसियों के प्रदेश का मार्ग बन्द किया जा सके और अपनी नई अर्जित सम्पत्ति की उनके लालच से रक्षा की जा सके। अब समस्या यह खड़ी हो जाती है कि संरक्षकों के इस अत्यावश्यक वर्ग के सदस्यों का चुनाव कैसे किया जाय और उनको प्रशिक्षित कैसे किया जाय ?

उनको सर्वोत्तम संरक्षक कुतों के गुणों का वरदान भी मिला होना चाहिए। (रईस वर्ग का होने के कारण प्लेटो कुत्ते व घोड़े को पालने का शौकीन था और जैसा कि आगे चल कर हमें पता लगेगा मनुष्यों को प्रशिक्षित करने में भी उसकी अभिरुचि थी)। ऐसे उत्कृष्ट व्यक्तियों को शारीरिक एवं मानसिक शिक्षा देकर—यूनानी शिक्षा के परम्परागत विभागों द्वारा ध्यान से प्रशिक्षित किया जाना अपेक्षित है। यहां पहुंच कर प्लेटो साहित्य तथा संगीत का निरूपण करने लगता है। प्लेटो का सुकरात विस्तार से यह सिद्ध करता है कि साहित्य, पुराण तथा कथा-साहित्य में जो कुछ भी शिक्षाप्रद अंश नहीं है—वह सबका सब उनमें से निकाल देना चाहिए। होमर के वीर काव्य संग्रह तथा उच्चकोटीय

यूनानी नाटक ग्रन्थों का अधिकांश इस प्रतिबन्ध में आ जाता है। संगीत तक पर भी नियन्त्रण रखना होगा। केवल कुछ दकियानूसी रचनाएँ ही, एक व्यवस्थित वीर जीवन की लय से मेल खाती हैं, 'संगीत की पद्धतियों में कोई परिवर्तन होगा तो उसके पश्चात् राज्य के अत्यन्त आचार-भूत कानूनों में भी सदा परिवर्तन होगा'—प्लेटो के इस दावे से स्तालिन और ख्रूश्चेव के रूस की याद ताजा हो जाती है। (४२४ C)

शारीरिक शिक्षा के सम्बन्ध में प्लेटो की सम्मति भले ही कट्टर हो, पर है वह साधार—स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर में ही रह सकता है। परन्तु चिकित्सा-विज्ञान की उस चिकित्सा-पद्धति के प्रति उसका रुख कठोर है जो एक निरर्थक जीवन की आयु बढ़ाती है। प्लेटो न तो जन-हितैषी राज्य का रसिक था और न ही वह ईसाई-आदर्शवादी था। यदि चिकित्सक किसी व्यक्ति को काम पर वापस नहीं पहुंचा सकते तो उन्हें चाहिए कि वे उसे मरने दें।

“अब हमें अगली कौन-सी समस्या का समाधान करना है? क्या अब समस्या यह नहीं है कि इनमें से कौन शासन करें तथा कौन शासित हों?” (४१२ B)। पहला संक्षिप्त उत्तर यह है कि हमें इस योद्धा वर्ग में से एक वयस्क श्रेष्ठ वर्ग को छांटना होगा। ये 'संरक्षक' होंगे तथा शेष सभी सैनिक उनके 'सहायक' होंगे। इस पद्धति को स्पष्ट करने तथा इसको उचित प्रतिपादित करने के लिए हमें इसकी उत्पत्ति के विषय में नगर भर में एक कल्पित कथा फैलानी होगी—संरक्षक श्रेष्ठ वर्ग समेत सभी को यह प्रेरणा देनी पड़ेगी कि वे कल्पित कथा को सच समझें। वह कथा यह है कि देवताओं ने संरक्षकों की प्रकृति में सोना, सहायकों की प्रकृति में चांदी तथा बचे हुए की प्रकृति में लोहा तथा तांबा रख कर यह आदेश दिया है कि जिस दिन गलत आदमी गलत काम करने की कोशिश करेंगे उसी दिन नगर नष्ट हो जायेगा। प्लेटो का कुख्यात 'उदात्त असत्य' (Noble Lie) यही है।

प्लेटो को भय है, और उसका यह भय युक्तियुक्त भी है कि उसका

सैनिक वर्ग अपने नागरिक अवसरजनों से अनुचित लाभ उठाएगा। इसके लिए वह अपनी बुद्धि के अनुसार पर्याप्त तीन पूर्वोपाय पेश करता है। पहला उपाय यह बताता है कि सर्वश्रेष्ठ कार्यों के लिए जन्मजात बुद्धिमान लड़कियां तथा लड़के दोनों ही होंगे। लड़कों के साथ-साथ इन लड़कियों को भी प्रशिक्षित करना होगा जिससे वे समकक्ष बनकर उनके कार्य में हाथ बटा सकें। दूसरी बात वह यह कहता है—और वह स्वयं ही यह स्वीकार करता है कि सम्भव है कि इस उपाय को अधिक निन्दित सुभाष समझा जाय—कि 'ये स्त्रियां इन सबकी सर्वनिष्ठ पत्नियां होनी चाहिएं। कोई स्त्री किसी पुरुष के साथ एकान्त जीवन व्यतीत न करे। उनके बच्चे भी सर्वनिष्ठ होने चाहिएं; जनक को तो अपनी सन्तति का ज्ञान न हो और बच्चे को अपने जनक का ज्ञान हो।' (४२=C)

फिर भी 'कैलिपोलिस' में संकरता से कभी काम नहीं चलेगा। कुछ भी हो, मानव-जनन क्षेत्र में वंशानुगत-गुणोपेत वंश को बनाए रखने की समस्या सबसे अधिक महत्वपूर्ण है: "इससे यह परिणाम निकलता है कि यदि हमारी मंडली को सबसे अधिक पूर्णता प्राप्त करनी है तो दोनों लिंगों के सर्वोत्तम व्यक्तियों का यथासम्भव अधिक से अधिक बार समागम कराना होगा तथा निकृष्टतमों को कम से कम बार मिलने देना होगा और हमें उत्कृष्टों की सन्तान का पालन-पोषण तो करना चाहिए, निकृष्टों की सन्तान का नहीं।" (४५६D)। पत्नियां और सन्तान सर्वनिष्ठ हों इसका यह लाभ तो है ही कि सन्तति स्वस्थ तथा सुन्दर होगी—इसके अतिरिक्त प्लेटो पत्नियों और सन्तान के समाजीकरण को इस कारण से भी चाहता है जिस कारण से कि वह यह चाहता है कि 'संरक्षक' बैरकों में रहें, भोजनशालाओं में भोजन करें और उनकी कोई निजी सम्पत्ति न हो। इससे संगठन बढ़ेगा और व्यक्तिवाद अनुत्साहित होगा।

प्लेटो का तीसरा तथा अत्यन्त निन्दनीय सुभाष वह है कि सर्वोच्च-सत्ताधारी एकाधिपति श्रेष्ठवर्ग दार्शनिक होना चाहिए। परन्तु यहां वह

इस बात को स्पष्ट कर देता है कि दार्शनिक से उसका क्या अभिप्राय है ।

Digitized by eGangotri
जो पदार्थों के लक्ष्यात्मक अपरिहार्य गुणों को, प्रसिद्ध अफलातूनी वस्तु-
तत्त्वों को एकत्र रखने वाले निर्माणात्मक हेतुओं को, परलोक में, शाश्वत
अगोचर के अपरिवर्तनशील दूरवर्ती स्वर्ग में, उपन्यस्त मानकों को जानता
है। तत्त्वज्ञानी और केवल तत्त्वज्ञानी ही (वस्तु के) मूल्य अथवा उसकी
विशेषता-विषयक भ्रांतिजनक तथ्यों को समझता है (और उस भ्रांति
में नहीं फंसता)। “स्वयं न्याय का क्या स्वरूप है और यदि कोई पूर्ण-
तया न्यायी मनुष्य अस्तित्व में आ जाए तो वह कैसा होगा—हमारी
इस खोज का लक्ष्य एक मानक को प्राप्त करना ही था।...लोग यदि
चित्रकारों की भांति पूर्ण सत्य पर ध्यान नहीं दे सकते और मानक को
नहीं सोच सकते तो वे अन्धे ही कहलायेंगे। उनको इस मानक की आव-
श्यकता सुन्दर, न्याय्य तथा श्रेयस्कर वस्तुओं से सम्बद्ध विचारों का वास्त-
विक निरूपण करने के लिए ही है.....’ (४२७ सी)।

परन्तु जिन तत्त्वज्ञानियों को इस प्रकार ज्ञान उपलब्ध हो चुका है वे—“अपने (मानस चित्र की) यवनिका के रूप में किसी नगर अथवा मानव-चरित्र को लेंगे और पहले अपनी यवनिका को स्वच्छ बनाएं; जो सरल काम नहीं है। ठीक इसी बात में उनमें तथा औरों में अन्तर होगा। वे नगर अथवा व्यक्ति को जानना अथवा नियमों की रूपरेखा बनाना तब तक स्वीकार नहीं करेंगे जब तक कि उन्हें कोई स्वच्छ यवनिका न दे दी जाएगी अथवा अपने लिए यवनिका को स्वच्छ न बना लेंगे।” (५०१ सी)।

तो फिर ऐसे स्वर्णिम 'संरक्षक' कैसे उत्पन्न किए जा सकते हैं ? इसके लिए प्रतिभा—उच्च मानसिक योग्यता—तो पहले आवश्यक है । परन्तु यदि प्रतिभा को भी सच्चा प्रशिक्षण न मिले तो यह निरर्थक से भी गई-बीती सिद्ध होती है । 'संरक्षकों' तथा 'सहायकों' के सर्वोत्तम बच्चे (ऋतिपूर्ण तो चुपचाप अलग कर दिए जाते हैं) सरकारी शिशु-

गृहों में पहुंचा दिये जाते हैं, सरकारी विद्यालयों में उनकी शिक्षा होती है, सांस्कृतिक वुराईयों से उनकी रक्षा की जाती है, और बड़े परिश्रम से, योद्धा साहसी व्यक्ति बनने का प्रशिक्षण दिया जाता है, । बीस वर्ष की आयु में इनमें से सर्वोत्कृष्टों को विशुद्ध गणित शास्त्र की दस वर्ष की शिक्षा के लिए चुना जाता है । फिर तीस वर्ष की आयु में इनमें से सबसे अधिक योग्यों तथा नैतिक दृष्टि से सर्वोत्तमों को पांच वर्ष तक दार्शनिक तर्क का अभ्यास कराने के लिये चुना जाता है । पैंतीस वर्ष की अवस्था में वे व्यावहारिक जीवन में प्रविष्ट होंगे और सेनाओं के नायक बनकर तथा छोटे-छोटे प्रशासकीय पदों पर रह कर व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करेंगे । जो व्यक्ति इन सब कामों को बिना किसी त्रुटि के पूरा कर पाएगा केवल वही और तभी वह आदर्शमानकों का जाता तथा उनका संसार में प्रयोक्ता, 'संरक्षक' तत्त्वज्ञानी शासक बनने योग्य कहा जा सकता है ।

इस सबसे हम क्या समझें ? क्या 'दि रिपब्लिक' उस मनुष्य का केवल एक हवाई सपना ही है कि जिसको राजनीतिक हिंसा की वास्तविकता से हुई मुठभेड़ में लगी पहली चोट, तरुण अवस्था में लगी चोट, ने व्यावहारिक जीवन से निवृत्त कर दिया है ? क्या हम इस सबको बादलों में के एक सान्ध्य नगर की सुन्दर भांकी मात्र समझकर, हंसते हुए अथवा दुःख से आह भरते हुए, मन से दूर कर दें ? ऐसी अधीर विचक्षणता के समर्थन में हम साइराक्यूस को 'भव्य नगर' में परिणत करने वाले तरुण तानाशाह डाइओनीसियस द्वितीय को तत्त्वज्ञाता शासक बनाने के मन्द भाग्य प्रयत्न में प्लेटो की अपमानजनक असफलता की ओर इशारा कर सकते हैं । और फिर 'दि रिपब्लिक' का आदर्श तो केवल कुछ हजार जनसंख्या के छोटे सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न नगर के लिए ही है । यह आदर्श उस आधुनिक राष्ट्रीय राज्य के लिए नहीं बनाया गया है कि जिसमें विशाल प्रदेश और करोड़ों की आबादी हो और जिसने कितनी ही गैल्लिक सफलताएं उपलब्ध कर ली हों । 'दि रिपब्लिक' अब

किसी स्वप्नद्रष्टा सामाजिक शिल्पी के लिए उपयोगी, कोई कामचलाऊ योजना नहीं प्रस्तुत करता है। मनु इसमें केभी कोई ऐसी योजना प्रस्तुत को ही है। परन्तु विचार, शिल्पी की योजना के अतिरिक्त दूसरे रूपों में भी महत्वपूर्ण हो सकते हैं। प्लेटो अमूर्त तथा आदर्श की कल्पना करने का प्रेमी अवश्य था, परन्तु अपने पास-पड़ोस की वास्तविक संस्थाओं का अवलोकन करने की वेधक दृष्टि का वरदान भी उसको मिला हुआ था। उसका जीवन कम लम्बे-चौड़े सीधे-सादे राज्यों में बीता था इसलिए वह उन सिद्धांतों को स्पष्ट रूप से समझ पाया था जिनको हम आजकल की अपरिमित सामाजिक तथा आर्थिक जटिलताओं के कारण नहीं समझ सकते। उदाहरण के लिए, उसकी जन्म-मृत्यु के आंकड़ों की शक्तियों के सम्बन्ध में अर्थात् जनसंख्या वृद्धि की सामाजिक दृष्टि से विस्फोटक शक्ति के संबंध में, सतत जागरूकता को लीजिए। आधुनिक तकनीकी ने जनसंख्या नियंत्रण की उसकी बताई पद्धतियों को भले ही अव्यवहार्य, अप्रचलित तथा अमानुषिक ठहरा दिया है। और हमें आशा है कि एक दिन विज्ञान सुन्दर एवं स्वस्थ सन्तान उत्पन्न करने की उस द्वारा निर्दिष्ट पद्धतियों के विषय में जीवविज्ञान द्वारा निर्दिष्ट उपायों का आश्रय लेकर मानव-निर्माण सामग्री की श्रेष्ठता बनाए रखने तथा उसमें सुधार करने के विषय में भी यही निर्णय देगा। परन्तु एक बार प्रमाण उपस्थित कर देने पर तो समृद्धि तथा शान्ति के लिए मानव जनसंख्या के नियंत्रण के आधारभूत महत्त्व की उपेक्षा करना कठिन हो जाता है। तो भी दैनिक राजनीतिक अनुभव से सिद्ध होता है कि भले ही इसका निषेध करना कठिन हो, परन्तु यह कुछ ऐसी वस्तु है कि इसको भूल जाना सरल है अथवा इसकी उपेक्षा करना ही सुविधाजनक है।

अथवा फिर प्लेटो की उन व्यवस्थाओं पर विचार कीजिए जो उसने 'संरक्षकों' तथा 'सहायकों' के रक्षक वर्गों के मध्य पत्नियों तथा बच्चों के संस्वामित्व के विषय में बनाई हैं। इन व्यवस्थाओं पर प्रायः यह

आक्षेप किया जाता है और इनसे प्रकट होता है कि इनका निर्माता मानव आवश्यकताओं को समझने में सफल रहा है। यह आक्षेप अत्यधिक कटु है। इस विषय में प्लेटो की विचारधारा का यथोचित मूल्य आंकने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके अपने सुझावों के सम्बन्ध में प्रतुस्त तर्कों पर कम से कम उतना तो ध्यान दें ही जितना उसकी प्रस्तुत वास्तविक व्यवस्थाओं पर देते हैं।

श्रेष्ठ वर्ग का न तो कोई निजी परिवार होना चाहिए और न उसकी निजी सम्पत्ति होनी चाहिए—इसके सम्बन्ध में उसने यह उक्ति दी है कि ऐसे निजी स्वार्थों से श्रेष्ठ वर्ग के लिए उपयुक्त, लोकसेवा की अटूट लगन में विघ्न पड़ेगा। पुरोहित वर्ग बालब्रह्मचारी रहें—इस सिद्धांत के समर्थन में भी यही मुख्य व्यावहारिक युक्ति दी गई है। पैराग्रा में सोलहवीं सदी में जो जेसुइट संघ, चुने हुए जीवनोत्सर्गी, अत्यंत प्रशिक्षित तथा बालब्रह्मचारियों का जो संघ, प्रचलित था, उसके नियम बनाने में भी निस्सन्देह, कुछ-कुछ प्लेटो की भावना काम कर रही थी।

फिर श्रेष्ठवर्गी माता-पिताओं से उत्पन्न सब बच्चों को तत्काल राजकीय शिशुगृहों में भेज देने के विषय में उसकी एक युक्ति यह है यदि इन बच्चों की माताओं को बोझिल मातृ कर्तव्यों से मुक्त न रखा गया तो वे लोक-सेवा में पिताओं के समकक्ष न रह सकेंगी। प्लेटो के प्रस्ताव भले ही स्वीकार्य न हों तो भी उस पर यह दोष नहीं लगाया जा सकता कि उसने महिलाओं के लिए पूर्ण तथा सक्रिय राजनैतिक समानता की आधारभूत जीवविज्ञान-सम्मत कठिनाई से जी चुराया।

“वस्तुतः प्लेटो का प्रभाव कितना था?”—इस प्रश्न का उत्तर, जहां तक मैं समझता हूं, यही होना चाहिए कि सीधा प्रभाव तो उसका बहुत ही कम था और जो कुछ था वह भी बाद में, पूर्ववर्ती ‘दि रिपब्लिक’ पुस्तक से तो नहीं, ‘दि लाज’ (नियम) नाम की पुस्तक के माध्यम से हुआ। क्योंकि जब उसके शिष्यों को यूनानी नगरों के संविधान के सम्बन्ध में सलाह देने के लिये बुलाया गया था तब उन्होंने ‘दि रिपब्लिक’

के सिद्धान्तों का प्रयोग न करके हमारे ज्ञान के सर्वोत्तम सिद्धान्तों का प्रयोग किया था ।

यूरोप की मध्ययुग की अनेक संस्थाएं तथा उस युग में प्रचलित अनेक विचारधाराएं प्लेटो के अनुसार बनी तो हुई थीं परंतु यह युग अपनी ही पद्धति पर चल रहा था, प्लेटो की पद्धति पर नहीं चल रहा था । वस्तुतः तो 'दि रिपब्लिक' अधिकतर अनुपलब्ध ही था । हाल ही में ब्रिटिश सिविल सर्विस तथा भारतीय उपमहाद्वीप की सेना में और प्लेटो के 'संरक्षकों' एवं 'सहायकों' के मध्य समानता बताई गई है । उस इंडियन सिविल सर्विस के इतिहास-लेखक फिलिप बुडरफ़ ने तो अपने एक ग्रन्थ का नाम ही 'गार्जियन्स' (संरक्षक) रखा है । और, निस्सन्देह, इनमें से अनेक सिविल सेवकों को आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के स्नातकपूर्व पाठ्यक्रम में 'दि रिपब्लिक' पढ़ना पड़ा था । सम्भवतः लिपिक, कार्यकारी तथा प्रशासक इन तीनों विभागों में विभक्त, परम्परागत ब्रिटिश होम सिविल सर्विस संस्था भी प्लेटोवादी प्रत्यक्ष प्रभाव से प्रभावित है ।

प्लेटो का अप्रत्यक्ष राजनैतिक प्रभाव सम्भवतः बहुत अधिक था । पांचवीं सदी में सेंट आगस्टिन ने 'दि सिटी ऑव गॉड' (परमात्मा का नगर) पुस्तक लिखने में प्लेटो द्वारा प्रतिपादित विचारधारा से बहुत कुछ ग्रहण किया था । आठवीं सदी में रूसो और शायद उसके माध्यम से उन्नीसवीं सदी में हेगल, प्लेटो की विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित हुआ था । प्लेटो ने एक मितव्ययी नगर का जो गृहातुरी चित्र खींचा था उसको देखकर रूसो ने 'प्रकृति के अनुसार' सरल जीवन का अपना सिद्धान्त बनाया था । सादा जीवन के इस आदर्श का ही यह परिणाम था कि जब १७८९ की फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति की सेनाएं 'वरसाई' के शानदार महल के बाहर डटी खड़ी थीं उस समय—रानी मेरी ऐंटाथनेटी ने अपने वर्साई स्थित शानदार महल के भीतर विशेष रूप से निर्मित दुग्धशाला में दुग्ध बेचने वाली का अभिनय किया ।

रूसो ने प्लेटो की शिक्षा सम्बन्धी प्रकल्पनाओं से अधिक प्रेरणा

ग्रहण की थी। प्लेटो ने शिक्षा के महत्त्व पर जिसमें बल दिया है, किसी भी प्रमुख विचारक ने उससे अधिक बल शिक्षा पर नहीं दिया है। प्लेटो की 'दि लाज' पुस्तक के अनुसार शिक्षामन्त्री राज्य का प्रमुख अधिकारी होगा। प्रशिक्षण काल में आज के अध्यापकों को 'दि रिपब्लिक' के कुछ सुनहरी परिच्छेदों का पढ़ाया जाना निष्प्रयोजन नहीं है। तो भी प्लेटो ने सदा इसी बात पर बल दिया कि सम्भावनाएं सीमित ही हैं। शिक्षा ऐसी कोई रसायन अथवा कीमियागिरी नहीं है कि ताम्रमयी प्रतिभा से सुनहरे मनुष्य बना दे।

परन्तु सबसे अधिक स्थायी प्रभावशाली तो वे दो विचार हैं जिन पर अभी तक हमने कोई टिप्पणी नहीं की है। इनमें से पहला विचार यह है कि साधनों के विषय में विशेषज्ञों की विद्यमानता के अतिरिक्त लक्ष्यों के विषय में भी विशेषज्ञ हो सकते हैं। प्लेटो ने जो यह बात कही है कि तत्त्वज्ञानी ही शासन करें, वह लक्ष्यों के सम्बन्ध में विशेषज्ञों के रूप में कही गई है। उसकी एक विशेष युक्ति यह है कि जैसे जूता गढ़वाने के लिए हमें चमार के पास और अपने जहाजों का कप्तान नियुक्त करने के लिए कुशल नाविक के पास जाना पड़ता है वैसे ही प्रशासन कार्य के लिए हमें विशेषज्ञ प्रशासक की सेवा में जाना पड़ेगा। परन्तु ये सब उपमाएं ठीक निर्णायक बिन्दु पर ही आकर टूट जाती हैं। कुशल नाविक, निस्सन्देह, जहाजों को गन्तव्य स्थानों पर पहुंचा सकता है परन्तु हम कहां जाना चाहते हैं—इस बात को बताने में न तो वही विशेषज्ञ है और न कोई दूसरा ही विशेषज्ञ है।

यही बात प्रशासन-संयंत्र के वैज्ञानिक विमर्शकर्ता के सम्बन्ध में भी है। अपनी विशेषज्ञता के कारण वह यह तो भले ही बता सके कि हमारे राजनीतिक ध्येयों की अत्यन्त सफल प्राप्ति के कौन-कौन से मूल साधन हैं, परन्तु उसको इस बात का कोई ज्ञान नहीं है कि ये ध्येय क्या होने चाहिए। हम इस बात के लिए प्लेटो के ही ऋणी हैं कि उसने हमको उस दार्शनिक की एक स्थायी धारणाप्रदान की कि जो मूल्यों का विशेष-

पज्ञ है। इसी प्रशिक्षण और सार-प्रस्तुति का व्यवस्थापक है और जिन मूल्यों को उसने वस्तुओं के समयातीत अपरिहार्य गुणों में व्यस्त देखा है—उनका विधान औरों के लिए करता है।

इन स्थायी प्रभावशाली विचारधाराओं में से दूसरी विचारधारा विश्वविद्यालय की विचारधारा है। क्योंकि 'दिरिपब्लिक' अन्य बातों के अतिरिक्त उसकी 'अकादमी' का घोषणापत्र तथा उसका प्रोग्राम भी है। प्लेटो द्वारा स्थापित यह 'अकादमी' पहला विश्वविद्यालय था। 'अकादमिक' शब्द तक भी हमने यहीं से लिया है। इस 'अकादमी' की प्रेरणा से ही उसकी ओजस्वी यौवनावस्था में गणित का अत्यन्त रचनात्मक कार्य सम्पन्न हुआ था। एक न एक रूप में यह नौ सौ वर्ष तक, तब तक चली जब तक कि इसके वंशपरम्परागत अवशेषों को तत्राट् जस्टीनियन ने अन्त में छिन्न-भिन्न नहीं कर दिया। सांसारिक वातावरण से पृथक् एक शिक्षात्मक वातावरण में दी जाने वाली, तकनीकी के विपरीत उदार, शिक्षा की विचारधारा हमने प्लेटो तथा इसकी 'एकादमी' संस्था से ही ग्रहण की है। इसी स्रोत से हमने यह विचारधारा भी ग्रहण की है कि जो लोग इस प्रकार प्रशिक्षित होते हैं वही संसार को अपना अनुपम योगदान कर सकते हैं और उन्हें यह योगदान करना चाहिए।

बारबार स्मृतिपटल पर उभरने वाले प्लेटो द्वारा चित्रित 'गुफा' के चित्र का यही सार-संक्षेप है। मनुष्य एक 'गुफा' में कैद हैं, इस गुफा में उन्हें केवल गुफा के द्वार पर पड़ती छायाएं ही दिखाई देती हैं। मेहनत से शिक्षा ग्रहण करने वाला व्यक्ति ही वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को ठीक-ठीक देख पाता है। छायाओं की इस गुफा से इस प्रकार बाहर आए हुए व्यक्तियों को चाहिए कि वे कैदियों की सहायता करने के लिए लौटकर गुफा में जावें। "हमारे जिम्मे यह काम होगा कि हम सर्वोत्तम प्रकृति के व्यक्तियों को बाधित करके उस अध्ययन के लिए जिसको हमने—सर्वोत्तम अध्ययन घोषित किया है भेजें और उस उन्नति के लिए बाधित करें जिसका हमने उल्लेख किया है। जब वे यह काम कर चुके

होंग और काफ़ी जांच-पड़ताल कर चुके होंगे तब हम उन्हें वहीं ठहरे रहने की स्वतन्त्रता कभी नहीं देंगे । उन्हें पुनः उतर कर कैदियों में आने का और प्रशंसित अथवा अप्रशंसित कठिन और सरल कार्यों में उनका हाथ बंटाने से निषेध नहीं करना होगा ।” (५१६ सी)

अरस्तू (के० बी० स्मेली)

अरस्तू के विचार पश्चिमी सभ्यता के प्राण हैं। यह वह यूनानी है जिसके विचारों का सबसे अधिक अध्ययन हुआ है और जिसके विचारों का सबसे अधिक अध्ययन होना उचित है। गणित के अतिरिक्त उसकी सभी विषयों में गति थी। उसके तर्क-कौशल ने पश्चिमी संसार के दार्शनिकों को किसी भी अमूर्त वाद-विवाद में प्रयुक्त किए जाने योग्य पारिभाषिक शब्द प्रदान किये। उसने चिन्तन के लिए आवश्यक उपकरणों में से एक का निर्माण किया। वह जीव-विज्ञान के क्षेत्र में डारविन का प्रशंसापात्र बना अनुभववादी भी था और एक अटकलवाज विचारक भी था जिसको हेगल सरीखे अनुच्छ निर्णायक ने प्लेटो से अधिक गहरा और अधिक परिपूर्ण ठहराया था।

उसका ग्रन्थ 'पोलिटिक्स' (राजनीति)—“एक देश की जनता के राजनीतिक अनुभवों की, इसके सबसे अधिक बुद्धिमान् व्यक्ति के मन पर अंकित छाया का, तथा इस छाया के आधार पर निर्मित परिकल्पना का, परिणाम” था। राजनीतिक विचारों के लिए वह सदा महत्वपूर्ण रहेगा क्योंकि वह, वह दार्शनिक था कि जिसका तत्त्वज्ञान राजनीतिक अटकलों का प्राण था और इसलिए कि उसकी अटकलें ईसापूर्व की चौथी शताब्दी के उसके समकालीन नगर-राज्यों की अनुपम विभिन्नता के उपयुक्त थीं तथा इस पृष्ठभूमि पर खूब जांची-पड़ताली जा चुकी थीं।

अरस्तू का जन्म ३८४ ईसापूर्व मैसेडोनिया के तटवर्ती एक यूनानी उपनिवेश, 'स्टैगीरा' में हुआ था। उसका पिता मैसेडोन के राजा का एक चिकित्सक था। ३६७ ईसा पूर्व, जब अरस्तू १७ वर्ष की आयु का हुआ तो वह प्लेटो की अकादमी में अध्ययन करने के लिए एथेन्स पहुंचा और बीस वर्ष तक, प्लेटो की मृत्यु के समय तक, वहां पढ़ता रहा। उसने तब एथेन्स छोड़ दिया और कुछ वर्षों तक एशिया माइनर के द्वीपों तथा

तटवर्ती अनेक स्थानों पर समुद्री जीवविज्ञान का अध्ययन करता रहा। ३४३ ईस्वी पूर्व वह राजा मेसेडोन के पुत्र किशोर अलैक्जेंडर (उस समय आयु १३ वर्ष) का शिक्षक नियुक्त हुआ। उसने भावी महान् अलैक्जेंडर को नीति-विज्ञान तथा राजनीति-विज्ञान पढ़ाया और एशिया के भूगोल के सम्बन्ध में कुछ धारणाएं बतलाईं। बाद में उसने इसके लिए शासन-कला के विषय पर एक ग्रन्थ लिखा। कहते हैं कि अलैक्जेंडर अरस्तू द्वारा अपने लिए संशोधित 'इलियड' की एक प्रति अपने तकिये के नीचे रखता था।

पचास वर्ष की आयु में अरस्तू फिर एथेन्स में पहुंच गया और वहां 'लेसियम' में उसने अपना विद्यालय स्थापित किया। उसकी मृत्यु ३२२ ई० पू० में हुई। अपने गुरु प्लेटो के विपरीत वह एक परिवारी व्यक्ति था और भूमध्य सागरीय मनुष्यों, पशुओं तथा मत्स्यों का वैज्ञानिक प्रेक्षक रहा। वह एक शासन कला निपुण व्यक्ति था। उसने एक मध्यवर्गीय पेशेवर के लिए सुलभ तर्क-वितर्क तथा अन्वेषण का जीवन बिताया था। उसकी कभी कोई राजनीतिक महत्वाकांक्षा नहीं हुई।

महान् अलैक्जेंडर को जिन राजनितिक तथा सैनिक विधियों से विजय मिली थी, उनके विषय में अरस्तू हमें कुछ नहीं बताता। कोई ऐसा बड़ा साम्राज्य स्थापित होना सम्भव है या नहीं कि जिसके दार्शनिक, विश्व के नागरिक बनने की आशा रखें—इस विषय में वह कोई तर्क-वितर्क नहीं करता। उसका विश्लेषण केवल छोटे-छोटे नगर राज्यों वाले यूनानी संसार के अनुभव तक ही सीमित रहा—और इस संसार की जीवन शक्ति उस समय समाप्त प्राय ही थी। अरस्तू ने अतीत से शिक्षा ग्रहण की और एक पक्का दार्शनिक होने के नाते उसने भविष्य-वक्ता बनने की कोई चेष्टा नहीं की।

अरस्तू वह दार्शनिक था कि जिसने राजनीति का अध्ययन दार्शनिकता के स्तर पर किया था। यह एक अत्यन्त असाधारण व्यापार था। यह इस कारण सम्भव हुआ कि उसके तत्त्वज्ञान की आधारभूत धारणाएं,

राजनीतिक अनुभव के विश्लेषण की क्रिया में, किसी दूसरे प्रथम कोटि के दार्शनिक की धारणाओं से अधिक उपभोगी सिद्ध हुई। भले ही आज उसकी तर्कशैली को, उसके भौतिक ज्ञान को तथा उसके जीवविज्ञान को तो ऐतिहासिक अवशेषों के संग्रहालय में ही स्थान मिले परन्तु उसका राजनीतिक विश्लेषण तब तक जीवित रहेगा जब तक कि यह स्वीकार किया जाता रहेगा कि जीने योग्य जीवन पद्धति में तथा जीवन में न ढालने योग्य जीवन पद्धति में परस्पर अन्तर है और वह माना जाता रहेगा कि मनुष्यों के लिए श्रेयस्कर जीवन पद्धति का निर्माण उस व्यावहारिक बुद्धि पर निर्भर है जो व्यावहारिक बुद्धि, भले ही दार्शनिक अन्तर्दृष्टि से पोषित हो, परन्तु है उससे भिन्न।

अरस्तू एक दार्शनिक था। स्थूल रूप से दार्शनिक का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है कि जो यह जानना चाहता हो कि (१) जब हम सोचते हैं तो उस समय क्या कर रहे होते हैं; (२) वह प्रकृति क्या है जो हमारी मननशील वृत्तियाँ नहीं हैं—वह क्या वस्तु है जो “विचार के सारे क्षेत्र का परित्याग किए प्रतीत होती है”—सभी वस्तुओं के भीतर चालू, कण-नृत्य क्या है; (३) एक ऐसा जन्तु होना कि जो उस संसार में चिन्तन करता है कि जहाँ, देवता भले ही करते हों—और कोई प्राणी चिन्तन नहीं करता अर्थात् मनुष्य होना क्या है? इन प्रश्नों के जो उत्तर अरस्तू ने दिए, उनका राजनीतिक समस्याओं से अत्यन्त प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। उनकी ओर ध्यान दिला कर उसने पश्चिमी यूरोप को राजनीति का वास्तविक स्वरूप समझना सिखाया।

अरस्तू ने बताया कि लोग आश्चर्य के माध्यम से तत्त्व निरूपण करना शुरू करते हैं। संसार क्या है और संसार में लोगों का क्या हिस्सा है, ऐसे प्रश्न विचार के प्रकृत विषय बनते हैं। अरस्तू पहला यूरोपियन था कि जिसने यह सोचा कि लोग तत्त्व निरूपण अथवा विचारने की इस सहज अभिलाषा की पूर्ति कैसे कर सकते हैं। इस खोज के सिलसिले में ही उसने अपने समकालीन यूनानी जगत् के राजनीतिक जीवन का वर्गी-

कारण तथा विश्लेषण कर डाला । “उसके राजनीतिक तत्व दर्शन का स्थायी मूल्य इस बात में है कि तात्त्विक निरूपण द्वारा उपलब्ध कतिपय सिद्धान्तों पर वह दृढ़ रहा और साथ ही वास्तविक स्थिति का भी उसने आदर किया ।”

अरस्तू के तत्वदर्शन का मुख्य विषय यह है कि संसार में जिनका भी अस्तित्व है उन सभी में—हमारे विचारों में, हमारे शरीरों में, पशुओं में, कला में और देखने में निर्जीव प्रतीत होते संसार में—सभी में एक ‘आगमन शील-अस्तित्व’ (Coming-to-be) है; एक वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सम्भाव्य (अव्यक्त) को स्पष्ट किया जा रहा है । “जब किसी वस्तु की अस्तित्व में आने की प्रक्रिया की उपलब्धि हो चुकती है (जब वह अपना साध्य अन्तिम ध्येय अथवा अन्तिम रूप सिद्ध कर लेती है) तब वह जो कुछ होती है उसको हम उसकी ‘प्रकृति’ (physis) कहते हैं—प्रत्येक वस्तु के साथ यही बात है, भले ही वह वस्तु मनुष्य हो, घोड़ा हो अथवा कुटुम्ब हो ।” सभी वस्तुओं में वह एक प्रकृति (physis) है, जो कि एक साध्य, अन्तिम रूप की (telos) उपलब्धि है ।

परन्तु वस्तुओं के साध्यों, अन्तिम रूपों अथवा उनकी प्रवृत्तियों के सबके मूल्य बराबर-बराबर नहीं हैं । उत्कृष्टताओं की एक शृङ्खला, एक सीढ़ी विद्यमान है । मनुष्य जिस सर्वोत्कृष्ट को पहचान पाये है वही मनन का साध्य है—जिसका उपभोग शायद देवता ही करते होंगे । स्वयं मनुष्यों के लिए तो ज्ञान है, जो उनके ज्ञान में सर्वोच्च वस्तु है क्योंकि ज्ञान स्वयं एक साध्य है, यह किसी वस्तु का साधन नहीं है ।

किसी वस्तु की प्रकृति ही उसका साध्य अथवा अन्तिम रूप है, इसी धारणा के अन्तर्गत अरस्तू की द्रव्य तथा रूप, सम्भाव्य अव्यक्त तथा वास्तविक की धारणाएं भी आ जाती हैं । संसार में जो भी वस्तुएं विद्यमान हैं—उन सभी में एक प्रक्रिया चलती है, जिसके द्वारा वे वह बन रही हैं जो कुछ उनमें अस्तित्व में आने के लिए है । इसका यह अभि-प्राय हुआ कि किसी भी क्षण रूप की एक अमुक कोटि—बाद में जो

Digitized by Arvind Sanjay Foundation Chennai and eGangotri
 कुछ हीना उसकी प्रतिज्ञा अथवा आभास—और द्रव्य को एक अमुक मात्रा—जिसको अस्तित्व में लाने के लिए अभी नहीं लिया गया है—होते हैं। कोई वस्तु जितनी अविकसित है उतनी केवल अव्यक्त है, अर्थात् उतनी वह अधिक 'द्रव्य' तथा कम 'रूप' है। वह जितनी वस्तुतः विकसित है उतनी वस्तुतः विशुद्ध रूप है। जो सीमान्त निरा द्रव्य है उससे लेकर उस सीमांत तक जो निरा (विशुद्ध) रूप है, एक सोपान पद्धति अथवा अनुक्रम है। द्रव्य वह है कि 'जिसमें से' कोई वस्तु बन जाती है; पीतल मूर्ति का, बीज वृक्ष का, प्राकृतिक आवेग सद्गुण के, शब्द जिन अक्षरों से बनता है तथा इसको उत्पन्न करने वाली ध्वनियां शब्द की—द्रव्य हैं।

एक सीमा तो रूप रहित द्रव्य की है—और दूसरा सीमांत विशुद्ध चिन्तन का है, मनुष्य इन दोनों के बीच में कहीं पर जीवन यापन करते हैं। अरस्तू कहता है, परन्तु "हमें उन लोगों की बात पर कान नहीं देना चाहिए जो हमें यह बताते हैं कि, क्योंकि हम मनुष्य हैं इसलिए हमारे विचार मनुष्यों के विचार होने चाहिए और चूंकि हम मरणशील हैं इसलिए वे मरणशील होने चाहिए, इसके विपरीत, जहां तक हो सके हमें अपनी मरणशीलता से पीछा छोड़ा लेना चाहिए और हमारे भीतर जो भी कुछ उदात्ततम है उसके अनुसार जीवन व्यतीत कर सकने की पूरी चेष्टा करनी चाहिए, क्योंकि यह बात राशि में भले ही तुच्छ हो, इसकी शक्ति और इसका मूल्य सब वस्तुओं से बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ा है।"

अरस्तू की यह धारणा दो समानताओं को देखकर बनी : ऐसी भुंड की भुंड वस्तुएं थीं कि जिनमें चूड़ा अथवा भेक बनने से पूर्व उनका अव्यक्त अंशों की शक्ल में प्रकट होता था और वृक्ष बनने से पूर्व उनका अव्यक्त बीजों में दिखाई दिया; मनन के जीवन का यह अनुभव सामने आया कि जिसमें मन में उपस्थित लगभग रूपरहित आश्चर्य, सबोध प्रयास के द्वारा, ज्ञान के एक व्यवस्थित क्षेत्र के सही व्यंजन—स्पष्टोच्चारण—के रूप में प्रकट हो सकता है।

यह धारणा कि सभी वस्तुओं में किसी उस वस्तु का वह आगमन-

शील अस्तित्व विद्यमान है जो अभी पूर्णतया उसमें नहीं है—और जिस को हम किसी शिशु प्राणी को देखकर जानते हैं अथवा तब जानते हैं जबकि हमारे मन में कोई विचार उठता है, भले ही वह कितना ही अस्पष्ट क्यों न हो—अरस्तू के राजनीतिक विश्लेषण की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण थी। यह धारणा ही उसके नैतिक तथा राजनीतिक तत्त्वदर्शन की पृष्ठभूमि तथा स्वीकृत नींव है। वह हम सभी के सुपरिचित अनुभव के विभिन्न स्तरों की जांच-पड़ताल करता है।

हम प्राणी हैं, इसलिए अपने कल्याण के लिए हमें जीवन की कतिपय आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है। हमारी प्रकृति को इसका दैनिक भोजन अवश्य मिलना चाहिये। परन्तु केवल रोटी से हमारा निर्वाह नहीं हो सकता। क्योंकि दूसरे सभी प्राणियों की भांति, जीवित बने रहने के सामान्य पाशविक कर्त्तव्य के साथ-साथ हमारा एक विशिष्ट कर्त्तव्य भी है। यह विशिष्ट मानवीय कर्त्तव्य, एक आचरण विशेष को, अनुभूतियों, अभिलाषाओं तथा जागरूकता के घालमेल को तथा इनकी प्रबलता को, मानव को जीवन भर चिरस्थायी बनाये रखना है। इस कर्त्तव्य का निर्वाह हम केवल यूनान की भूमि तथा उसकी जलवायु के वातावरण में तथा उन पड़ोसियों तथा सहचारियों के मध्य ही कर सकते हैं कि जिनके संग-साथ ही हम सहनशीलता तथा उदारता का अभ्यास कर सकते हैं और जिनके साथ ही हम उस 'मित्रता' का उपभोग कर सकते हैं कि जिसके बिना पृथ्वी का स्वर्ग केवल एक क्रूसो का द्वीप सरीखा निराकाल्पनिक ही होता'।

कोई देवता अथवा कोई पशु ही किसी प्रकार की समाज-व्यवस्था के बिना जीवन निर्वाह कर सकता है, परन्तु उच्च चिन्तन तथा विलक्षण एवं दयालु जीवन की मानव सम्भाव्य शक्तियों का सम्पादन तो समाज

१. जे. एल. मायर्ज—रचित 'पोलिटिकल आइडियाज़ आफ़ दि ग्रीक'

—पृष्ठ १८६

में ही (Digitized by Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection) प्रकाशित किया जा सकता है ।
 'मनुष्य' का यह एक विशेष लक्षण है कि अकेले उसको ही भले-बुरे, न्याय-
 अन्याय सरीखी बातों का कुछ ज्ञान है, और जिन जीवित प्राणियों को
 यह ज्ञान है उनके समाज से ही एक परिवार और एक राज्य बनता है ।

मनुष्यरूप सम्भाव्य प्रकृति की पूर्ण सिद्धि तो केवल नगर-राज्य में
 समकालीन यूनानी संसार के 'पोलिस' (नगर) में ही हो सकती है ।
 'पोलिस' (नगर) की एक आवश्यक विशेषता यह है कि यह एक जीवन-
 पद्धति है—'पोलिस' का अर्थ है किसी नगर की जीवन पद्धति । अरस्तू
 का यहां जीवन से अभिप्राय किसी प्राणी अथवा पौधे का जीवन नहीं
 है । 'पोलिस' कोई दैत्य अथवा कोई दूसरा मिथ्या कल्पित प्राणी नहीं
 था । 'नगर' न कोई देवता था और न कोई पशु ही था । नागरिक किसी
 देवता के पंजे नहीं थे । अरस्तू का यह अभिप्राय नहीं था कि नगर का
 जीवन किसी अकेले नागरिक के जीवन से पृथक् ऐसा ही जीवन था जैसा
 कि किसी एक नागरिक का जीवन उसके पड़ोसियों के जीवन से भिन्न
 देखा जा सकता है । नगर किसी देवता की भांति बादलों में छुपा, बाजार
 हाट अथवा सभा-समाज में घूमता-फिरता अपने नागरिकों के जीवन से
 पृथक् जीवन का निर्वाह नहीं करता था । स्थान की आत्मा अथवा प्रेरक
 शक्ति किसी स्थान विशेष में नहीं रहती । प्रत्येक नागरिक तात्त्विक दृष्टि
 से जो था वही था और वही बनता जो उसे बनना था । परन्तु नागरिक
 जो कुछ थे तथा उन्हें जो कुछ बन जाना था, वे इस कारण रहे आये थे
 और बन जायेंगे कि उन्हें 'पोलिस' (नगर) के जीवन में हिस्सा बंटाया
 था । एक जीवन नैतिक उत्कृष्टता का जीवन था—यही श्रेयस्कर जीवन
 है और ऐसे जीवन में साक्षात् अथवा सहचारिता ही नगर का जीवन था ।

ऐसी सहचारिता—'पोलिस' अथवा नगर-राज्य—समाज से तथा
 प्रशासन (सरकार) से भिन्न वस्तु थी । समाज से यह इस बात में भिन्न
 थी कि इसका प्रयोजन एक श्रेयस्कर जीवन के अस्तित्व को सम्भव बनाना
 था, स्वयं जीवन का परीक्षण ही इसका प्रयोजन नहीं था । यह वह

‘निरा जनसमुदाय अथवा समाज नहीं था जिसका एक सर्वसामान्य स्थान होता है और जिसमें अपराध-निवारण की तथा क्रय-विक्रय के अवसर की व्यवस्था होती है ।’ यदि जीवित बचे रहना ही एकमात्र लक्ष्य होता तो दासों और बर्बर प्राणियों का भी एक नगर बन सकता था । वस्तुतः उनका नगर नहीं बन सकता “क्योंकि, आनन्द में अथवा स्वतन्त्र चुनाव के जीवन में उनका कोई हिस्सा नहीं है ।” विकसित रूप में ‘पोलिस’ का अस्तित्व शुभ कार्यों के लिये था, केवलमात्र साहचर्य के लिए ही नहीं था । और यदि ‘पोलिस’ निरे समाज से भिन्न था तो यह सरकार से भी भिन्न था; क्योंकि, यह वह एकता थी कि सरकार जिसका केवलमात्र एक कृत्य ही है ।

इस स्थापना के पश्चात् कि ‘पोलिस’ वह जीवन पद्धति है कि जिससे प्रत्येक मनुष्य का सर्वोत्तम मानवीय गुण विकसित होता है, अरस्तू को इस तथ्य के फलितार्थों पर विचार करना है कि ऐसा ‘पोलिस’ किसी भी दूसरे सम्पूर्ण की भांति अवयवों से बनी हुई एक मिश्रित रचना है । नागरिक ही इसके अवयव हैं । सिद्धांत रूप से तो नागरिकों तथा समाज में कोई प्रतिपक्ष अथवा विरोध नहीं है । उनका जो आपसी सम्बन्ध है उसके कारण ही वे अपना-अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं । परन्तु अरस्तू सरीखे कुशल जीवविज्ञानी की दृष्टि में तो तथ्य तथ्य ही थे । यह स्पष्ट ही है कि नगरों की अनेक किस्में थीं । प्रत्येक मनुष्य में चिन्तन शक्ति तथा भले-बुरे को छांट लेने की शक्यता विद्यमान है—जो किसी पशु में नहीं हैं, परन्तु विवेक बुद्धि में, (जो केवल मनुष्य में ही है) तथा आवेशों में—(जो पशुओं में भी है) सन्तुलन शक्ति, प्रत्येक मनुष्य में भिन्न-भिन्न मात्रा में है । नगरों में भी ऐसी ही विविधता है । भारी विविधता के रहते भी यह बताया जा सकता है कि उनमें सर्वनिष्ठ क्या कुछ है—वही उनका उचित रूप है । परन्तु जैसे प्रत्येक मनुष्य सज्जन नहीं होता वैसे ही प्रत्येक नगर अच्छा नगर भी नहीं होता ।

अरस्तू ने नगरों के आपसी अन्तर्गों का विश्लेषण करते हुए ही कई

महानगरों की समस्याओं पर नगरों के अथवा पंचायतों की समस्याओं पर प्रकाश डाला है। उसने अपनी 'ऐथिक्स, (नैतिकता) नाम की पुस्तक में लिखा था कि "आइये, पहले तो जो कुछ भी सत् अथवा श्रेयस्कर है उसकी एक सामान्य धारणा बनाने का यत्न करें—और फिर विधिविधानों के संग्रहों पर विचार विमर्श करके यह निश्चय करें कि नगरों की परिरक्षा किन नियमों से होती है और किनसे वे नष्ट होते हैं; और इस बात के कौन से कारण हैं कि "कुछ नगर तो सुशासित हैं तथा दूसरे सुशासित नहीं हैं।" और चूंकि मानव की और उसके भौतिक संसार की प्रकृति ही ऐसी है कि वह यथासम्भव परिपूर्णता का यत्न करता है इसलिए बहुत से नमूनों की जांच होती है—इस प्रकार वस्तुतः तुलनात्मक अध्ययन करते हुए अरस्तू ने चौथी शताब्दी के नगर-राज्यों के क्षुब्ध जीवन के बहुत से चित्र दिये हैं। वह राज्यों के विभिन्न रूपों की सूक्ष्म तुलना करके उस राज्य का पता लगाना चाहता था कि जिसमें मनुष्य का अत्यन्त सदाचारी बन जाना सम्भव हो।

कारण कि राज्य एक मिश्रित रचना है और दूसरे किसी भी संपूर्ण की भांति वह अव्यवों का बना होता है (इसके अपव्यय नागरिक हैं) इसलिए अरस्तू को यह निर्णय करना पड़ा कि नागरिक बनना क्या होता है। वह निरा निवासी ही नहीं होता। "वह, वह व्यक्ति होता है जो न्याय प्रदान करने में हिस्सा बंटाता है तथा कर्तव्य कर्मों में हिस्सा लेता है।" नगर की भलाई को दृष्टि में रखते हुए आज्ञापालन तथा आदेश देने की विधि को वह जानता है। वह खिलाड़ी दल का वस्तुतः खेलने वाला सदस्य होता है। परन्तु कारण कि एक भला नागरिक वह व्यक्ति होता है जो अपने राज्य की भलाई के लिए आवश्यक सभी कार्यों को कर सकता है, अब प्रश्न यह उठता है कि क्या भला नागरिक अवश्य ही सज्जन भी होगा या नहीं। कारण कि नगरों के संगठन तथा उनके विधानों के बहुत से रूप होते हैं इसलिए सभी अच्छे नागरिक अवश्य ही सज्जन भी हों यह आवश्यक नहीं है, केवल वही सज्जन होंगे जो भले

विधि-विधानों के अधीन अच्छे नागरिक होंगे। अच्छे संविधानों वाले राज्यों में भी प्रत्येक नागरिक सज्जन नहीं होगा, केवल राजनीतिज्ञ और वे व्यक्ति ही सज्जन होंगे जो स्वयं अकेले ही अथवा औरों के साथ मिल कर सार्वजनिक मामलों को चलाते हैं अथवा चला सकते हैं।

कुछ शर्तें पूरी हो जायं तो, सुशासक की, सज्जन की और अच्छे नागरिक की अच्छाई एक-सी होगी। ऐसी स्थिति तभी होगी जब कि न केवल स्वयं नगर ही अच्छा होगा परन्तु इसका शासन भी उस नागरिक अथवा उन नागरिकों के हाथ में होगा जो आदेश-पालन के लिए भी उतने इच्छुक होंगे जितने कि आदेश देने के इच्छुक रहते हैं।

अरस्तू, विदेशियों द्वारा, भले ही वे बुद्धिमान क्यों न हों, शासन को निषिद्ध ठहराता है और यह मानता है कि बहुसंख्यकों द्वारा किया गया शासन तभी तक लाभदायक रह सकता है जब तक कि वे नागरिक बने रहते हैं अपने नगर की भलाई करने का यत्न करते हैं। वह यह भी स्वीकार करता है कि वैयक्तिक तथा नागरिक गुणों में पूर्ण मेल होने के कारण किसी राज्य के नागरिकों को सच्चे आनन्द का उपभोग करना है तो एक प्रकार का शासन क्षेत्र, समुद्र की समीपता, अधिक से अधिक सघन आवादी और इसके निवासियों में एक प्रकार का प्राकृतिक चरित्र-बल होना आवश्यक है। इन शर्तों का स्वयं यूनानी संसार की परिस्थिति के बहुत ही समान होना तो स्वाभाविक ही है।

अरस्तू एक परिपूर्ण संविधान की योजना बनाने के लिए तो तैयार है परन्तु वस्तुतः विद्यमान नगरों के किए गए विश्लेषण तथा वर्गीकरण को देखकर उसको अत्यन्त कौतूहल उत्पन्न हो जाता है। अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के राज्य विद्यमान हैं। जिस राज्य का ध्येय बुरा है वह राज्य बुरा है और सम्भव है कि यह सर्वथा राज्य ही न हो। अच्छे राज्य का लक्षण केवल भलाई ही नहीं है अपितु वह भलाई है जो एक सर्वनिष्ठ भलाई हो। सभी नागरिकों के सर्वसामान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नाग-

Digitized by eGangotri
 कि यदि लक्ष्य ही प्राप्त हुआ तो सकारण कोई भी नहीं करेंगे और यदि यह लक्ष्य प्राप्ति की चेष्टा सबके लिए नहीं की गई है तब भी वे वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सरकार को ठीक नहीं करेंगे ।”

संविधानों को वस्तुतः बनाते समय राज्य के जीवन में समाविष्ट विविध कर्तव्य-कर्मों अर्थात् चिंतन, निर्णय तथा सन्धि अथवा विग्रह के निर्णय करने का अधिकार में भेद बनाना आवश्यक हो जाता है । अधिकार-वितरण तथा निर्णय करने की प्रक्रिया के निर्णायक सामान्य ढांचे के भीतर कानूनों अथवा व्यवहार नियमों का होना आवश्यक है । इसका कारण यह है कि मानव की कार्यवाही से उलट-पुलट हो सकती है; राजनीति केवल मात्र प्रेक्षणात्मक विज्ञान नहीं, व्यावहारिक होनी चाहिए । व्यवहार में होता यह है कि अधिकार अथवा सत्ता के केन्द्रों पर केवल एक व्यक्ति का, कइयों का अथवा सभी का नियन्त्रण होता है । इससे अरस्तू ने जो वर्गीकरण किया है वह इस प्रकार है—एकतन्त्र (यदि भला है तो राजतन्त्र, यदि दूषित है तो अत्याचारी), कुलीन-तन्त्र (भ्रष्ट हो तो अल्प तंत्र), राज्य-तन्त्र (बहुतों का शासन परन्तु बहुत अधिक का नहीं—भ्रष्ट हो तो प्रजातन्त्र) ।

किसी भी राज्य का मुख्य आधार वह न्याय और समानता है जो उसका लक्ष्य होता है । प्रजातन्त्र का आधार यह विचारधारा है कि जो किसी एक विषय में समान हैं वे सब तरह से समान होंगे । अल्पतंत्र का आधार यह कल्पना है कि जो एक विषय में असमान हैं वे सभी बातों में असमान हैं । एक समूह तो यह मानता है कि यदि लोग एक बात में समान हैं तो वे सभी बातों में समान होंगे, दूसरे यह मान बैठते हैं कि यदि लोग समान नहीं हैं अपितु किसी एक बात में श्रेष्ठ हैं तब उन्हें सभी बातों में विशेष व्यवहार का अधिकार है । सामान्य रूप से कहा जाये तो दो प्रकार के संविधान हैं—एक ‘जनता का संविधान’ और दूसरा ‘अल्प-संख्यकों का संविधान’ अर्थात् प्रजातन्त्र तथा अल्पतंत्र । प्रजातंत्र अपेक्षा अधिक स्थिर होता है और अल्पतंत्र की अपेक्षा प्रजातंत्र में क्रान्ति होने

अरस्तू के राजनीतिक तत्वज्ञान का हमारे लिए क्या मूल्य है ? यदि अरस्तू इतनी कई बातों में हमारे निकट है तो यह भी नहीं भूलना होगा कि वह शेष बातों में हमसे कितना दूर है । उसका विश्व हमारा विश्व नहीं है—हमारी ऐसी कोई धारणा नहीं है कि हम प्रकृति को लक्ष्य की प्राप्ति समझते हों अथवा यदि हमारी यह धारणा है भी तो हम विज्ञानों की—मनुष्य की, पशुओं की और भौतिक पदार्थों की भाषा में उस धारणा को प्रकट नहीं कर सकते । नगर-राज्यों का जो संसार उस समय था वह आज विद्यमान नहीं है । हमारे और उनके बीच तो कितनी ही घटनाएं बीत चुकी हैं, वह रोमन कानून बना जो यह मानता है कि प्रत्येक मानव का अपना-अपना व्यक्तित्व है और उसको अधिकार दिए जा सकते हैं, फिर ईसाइयत आई कि जो यह दावा करती है कि सभी व्यक्तियों का एक तरह से तो एक स्वतन्त्र मूल्य है, फिर आधुनिक विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ राष्ट्रीय राज्यों का विकास हुआ—और उसके बाद प्रतिनिधि-शासन तथा अधिकारतन्त्री तकनीकियों का विस्तार हुआ । शायद राजनीतिज्ञता के व्यावहारिक विज्ञान के इतना सदृश होने के ही कारण संसार में अर्थ-व्यवस्था की प्रगति इतनी अधिक महत्वपूर्ण हो गई है । 'वेल्थ आवनेशनस्' (राष्ट्रों की सम्पत्ति) नाम की अपनी पुस्तक में एडम स्मिथ ने एक 'फिसिस' का—आर्थिक क्रियाशीलता के भावी अस्तित्व का विश्लेषण किया है, प्लेटो तथा अरस्तू दोनों ही को यह नहीं सूझा था । एक ओर तो हमारी और अरस्तू की परिस्थितियां परस्पर इतनी भिन्न हैं, दूसरी ओर हमारी कुछ अतिप्रबल समस्याओं का समाधान उसके सिद्धान्तों से प्रतीत होता है । आधुनिक विज्ञान की पद्धतियों द्वारा हम परिवारों की संरचना की अथवा प्रादेशिक, राष्ट्रीय अथवा और भी कल्पनीय किसी तीसरे प्रकार के संगठित संगठन की संरचना की कितनी

१. 'पौलिटिक्स' (अनुवादक जे० ए० सिन्क्वेयर)—खंड पंचम, अध्याय ७ ।



ही गहराई में क्यों न पठ जायं, चाहे तो एक जीवविज्ञानी के रूप में हम यह कहें कि हमें पालन कैसे करना है अथवा जनता के मत को ही अपना सर्वस्व मानने वाले के रूप में हम अपना 'मत' देने की विधि का संकेत दें—तो भी मानवों के सम्मिलित-उद्योग में आने वाली कार्यात्मक तथा रचनामूलक समस्याओं का अरस्तू का किया विश्लेषण संगत सिद्ध होता है। जहाँ तक हम मानव गुण सम्पन्न हैं वहाँ तक तो विवेक बुद्धि और आवेगों में परस्पर समझौता अवश्य होना ही चाहिए—इस कारण मनुष्य का हित अवश्य ही एक प्रकार का सन्तुलन होगा—यह बात इस तथ्य से नहीं बदलती कि तकनीकी अरस्तू की मान्यता के अनुसार संभव बड़े सर्वनिष्ठ लक्ष्य से भी बड़े सर्वनिष्ठ लक्ष्य वाले संगठित समुदाय बन गए हैं। यह बात कि ज्ञान की वृद्धि ने विशेषतया उस गणितीय ज्ञान की वृद्धि ने जिससे कि अरस्तू के गुरु प्लेटो को बड़ी-बड़ी आशायें थीं—व्यक्तियों तथा व्यक्ति-समूहों को वे शक्तियाँ तथा अधिकार (जहाँ तक मानव के मामलों में हस्तक्षेप करने का अथवा उन्हें बदलने का सम्बन्ध है, यूनानी देवता गुप्त रूप से हम पर प्रभाव डालते हैं) प्रदान कर दिये हैं जो कि प्राचीन यूनान में केवल देवताओं के लिए सुरक्षित थे, मानवों के सम्मिलित उद्योग में उपस्थित होने वाली समस्याओं के विश्लेषण को बहुत महत्वपूर्ण बना देती है।

आधुनिक तकनीकियों का प्रभाव यह हुआ है कि अरस्तू ने अपने ज्ञान के अनुसार सबसे अधिक जटिल जिस समूह की अर्थात् नगर-राज्य के लिए पुरोहितशाही की तथा उसके प्रवर्तन से सम्बद्ध जिन समस्याओं का इतना गहन विश्लेषण किया है वे समस्यायें आज परिवार से आरंभ होकर विद्यालय में से होती हुई, फैक्टरी, व्यापार, संसद, मन्त्रिमण्डल और उससे भी परे सब जगह व्याप्त हो गई हैं।

ऐक्वाइनैस

(मॉरिस क्रेस्टन)

सेंट थॉमस ऐक्वाइनैस सर्व सम्मति से सबसे अधिक महत्वपूर्ण ईसाई-दार्शनिक है। मध्ययुग के दूसरे लेखकों ने उसके कितने ही विचारों का पूर्वानुमान अवश्य कर लिया था; फिर भी, उसने ईसाई सभ्यता को एक इस प्रकार का नियमित और युक्तियुक्त तत्त्वज्ञान प्रदान किया कि जिसका इसको पहले ज्ञान नहीं था। नई विचारधारा के मोड़ के आधार रूप में इसका प्रयोग तबसे ईसाई और विशेषतया रोमन कैथोलिक विचारक करते आ रहे हैं।

निस्सन्देह, तेरहवीं सदी में ऐक्वाइनैस की शिक्षा से पहले ईसाई विचारधारा की मुख्यधारा यदि तत्त्वज्ञान विरोधी नहीं तो, युक्तियुक्तता के विरुद्ध, अवश्य थी। उस समय धर्म का आधार श्रद्धा को माना जाता था और विवेक बुद्धि अथवा तर्क को श्रद्धा का शत्रु समझा जाता था। ऐक्वाइनैस ने श्रद्धा और तर्क में अनुरूपता लाने का काम किया और उसने यह काम ईसाई दैवी सन्देश (इल्हाम) तथा यूनानी तत्त्वज्ञान में, विशेषतया अरस्तू के तत्त्वज्ञान में, जिसका ज्ञान अधिकतर अरबी विद्वानों की रचनाओं के कारण यूरोप में फिर से प्रचार में आ गया था, मेल कराने के काम से शुरू किया था।

ऐक्वाइनैस १२२५ में अथवा इसके आस-पास इटली के एक भद्र परिवार में ऐक्वाइनो के निकट रौक्कासेक्का में पैदा हुआ था। अभी वह नए संस्थापित नेपल्स विश्वविद्यालय का उपस्नातक ही था, कि उसने 'डोमिनिकन संघ' में प्रविष्ट होने का निश्चय किया। उसके परिवार ने उसके इस निर्णय पर आपत्ति प्रकट की परन्तु ऐक्वाइनैस अपने निश्चय पर अटल रहा और वह डोमिनिकन विद्वानों में से अति प्रमुख विद्वान् एलवर्टस मैग्नस की देखरेख में अध्ययन के लिए पैरिस चला गया। एलवर्टस को जो भी कुछ पढ़ाना था ऐक्वाइनैस ने वह सब पढ़ा और फिर

वह एक विश्वविद्यालय में विद्याभ्यास करने के लिए आया। वह अपने गुरु के चरणचिह्नों पर ही चला। उसने कोलों, रोम तथा नेपल्स विश्वविद्यालयों में और पैरिस विश्वविद्यालय में भी अध्यापन कार्य किया और पोप के दरबार में सेवा करने का भी कुछ अनुभव प्राप्त किया। मृत्यु के समय उसकी आयु पचपन वर्ष से कम थी—वह धार्मिक तथा तत्त्वज्ञान सम्बन्धी विषयों पर बड़े-बड़े बहुत से ग्रन्थ लिखकर छोड़ गया।

इन ग्रन्थों की शैली पण्डिताऊ है और इनमें प्रस्थापनाएं (Proposals) तथा उन पर आपत्तियां (objections) देते हुए तर्क वितर्क किया गया है। इस कारण इनको पढ़ना आसान नहीं है। इसके अतिरिक्त ऐक्वाइनैस बोल कर लिखाया करता था इसलिए भी उसकी शैली में वह सौन्दर्य नहीं है जो उसके पूर्ववर्ती धर्माचार्यों की शैली में था¹। फिर अरस्तू के ग्रन्थों पर उनके भाष्य जैसे ग्रन्थों में कुछ अनिश्चितता भी इस रूप में भी दिखाई देती है कि यह पता नहीं लगता कि वह केवल मूल का अर्थ ही स्पष्ट कर रहा है अथवा उससे अपनी सहमति भी प्रकट कर रहा है। इसके अतिरिक्त अब तक यह सन्देह भी बना हुआ है कि परम्परा से उसके ग्रन्थों के जिन भागों को उसका लिखा हुआ माना जाता है वे वस्तुतः उसके ही लिखे हुए हैं या नहीं। इसलिए उसकी गणना उन दार्शनिकों में की जाती है कि जिसके विषय में निश्चयपूर्वक कुछ लिखना अत्यंत कठिन है; और उसकी विचारधाराओं की प्रत्येक संक्षिप्त रूपरेखा अनिवार्य रूप से अधूरी हो होगी।

ऐकवाइनैस के ग्रन्थात्म विज्ञान तथा उसके नैतिक विज्ञान की भांति उसका राजनैतिक तत्त्वविज्ञान भी ईसाई सम्प्रदाय के तथा मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के मान्यसिद्धांतों के मेल का फल था । मिश्रण की इस प्रक्रिया में उसने राज्य विषयक परम्परागत ईसाई विचारधारा के एक केन्द्रीय विचार को छोड़ कर दूसरे की व्याख्या की । जिस विचार को उसने छोड़

१ टी. गिलवाई—रचित 'प्रिसिपैलिटी एण्ड पावर'—१९५८
पृष्ठ २७२—४ ।

Digitized by Arya Samaj Foundation, Chennai and eGangotri
 दिया था वह, वह विचार था जिसकी नींव नी-सा वष पहले उसके एक
 अत्यन्त महान् पूर्ववर्ती सेंट आगस्टिन ने रखी थी। यह विचार इस प्रकार
 था कि राजनैतिक संस्थाएं मनुष्य के पतन के परिणामस्वरूप अस्तित्व
 में आई हैं और उनकी योजना पाप के एक कृत्रिम प्रतीकारक के रूप में
 बनाई गई थीं। इस मान्यता के विरुद्ध, ऐक्वाइनैस ने अरस्तू का यह
 सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि मनुष्य की प्रकृति ही राजनैतिक तथा सामा-
 जिक है।

इस दृष्टि से समाज व्यक्ति से पूर्ववर्ती है। प्रकृति ने मनुष्य की
 योजना ही ऐसी बनाई है कि वह साहचर्य अथवा समाज में रहे अर्थात्
 केवल परिवार में ही न रहे अपितु राज्य में अपने पड़ोसियों के साथ
 एक सर्वनिष्ठ प्रशासन (सरकार) के आधीन रहे। इस प्रकार ऐक्वाइनैस
 की दृष्टि में तो मनुष्य स्वभाव से ही मिलकर रहने वाले हैं; समाजों का
 निर्माण विजयों अथवा किसी प्रकार की सामाजिक ठेकेदारी के आधार
 पर नहीं हुआ था; उनका अस्तित्व केवल मात्र शांति बनाए रखने के
 लिए अथवा स्वार्थ-विशेषों की रक्षा करने लिए ही नहीं है। वे इसलिए
 विद्यमान हैं कि मनुष्य स्वभावतः ही एक दूसरे के सदस्य हैं और इस
 कारण कि मानवों की प्रकृति ऐसी है कि यदि कोई मनुष्य किसी राज-
 नैतिक समुदाय अथवा समाज के सदस्य के रूप में जीवन न बिताये तो
 उसका वास्तविक मानवीय जीवन तो सम्भव ही नहीं है।

ईसाई होने के नाते ऐक्वाइनैस का यह कहना कि मानवों का निर्माण
 प्रकृति ने समाज के लिए ही किया था, इस कथन के बराबर है कि उनकी
 यह योजना परमात्मा ने बनाई थी! और इस बात को स्वीकार कर लेने
 पर, ऐक्वाइनैस ने आगस्टिन के एक दूसरे विचार का खण्डन करना शुरू
 किया ! आगस्टिन का वह विचार यह था कि इहलौकिक नगर तो सब
 के सब पाप लिप्त हैं—परिणामतः किसी भद्र समाज में रहने की ईसाई
 अभिलाषाएं केवल परलोक में ही पूरी हो सकेंगी। इधर ऐक्वाइनैस ने
 माना कि इस संसार में न्याय का बोलवाला सम्भव है ! राजनीतिक

समाज की संप्रदायों प्रविष्टा और सौरव होते हैं और पृथ्वी के वासी मनुष्य की सरकार के लिए ईसाई-व्यवस्था की बात करना सम्भव है ।

परन्तु ऐक्वाइनैस अपने कुछ समसामयिकों की भांति धर्मतन्त्र का योद्धा नहीं था । उसकी ऐसी कोई अभिलाषा नहीं थी कि उसके जीवन में पुरोहित स्थायी युवराज बनें अथवा पोप ईसाइयत का राजनीतिक सम्राट् बने । हां, उसकी दृष्टि में राजसमाज (राज संस्था) की अपेक्षा चर्च (ईसाइयत धर्म संस्था) की अधिसदस्यता अधिक प्रतिष्ठित थी, परन्तु साथ ही उसका यह विचार भी था कि धर्म के क्षेत्र को राजनीति के क्षेत्र से स्पष्ट ही पृथक् पहचाना जा सकता है और राजनीतिज्ञता तथा कानून की कलाओं के लिए, धार्मिक संघों की वृत्ति से अधिक दक्षता की आवश्यकता है ।

इसके अतिरिक्त, चर्च की अधिसदस्यता सार्वभौम है और ऐक्वाइनैस के विचार इस सम्बन्ध में अरस्तू के अनुगामी थे कि राज्य कुछ ऐसी वस्तु है जो आकार तथा संख्या—दोनों—में सीमित है । इस प्रकार की विचारधारा होने से न केवल यह पता लगा कि वह अरस्तूवादी है; अपितु यह भी पता लगा कि वह, आधुनिक संसार का ही—उस संसार का ही मनुष्य है कि जिसमें एक सार्वभौम धार्मिक साम्राज्य की पुरानी ईसाई-विचारधारा, निरन्तर अधिक प्रबल रूप में स्वतन्त्र, राष्ट्रीय राज्यों की वास्तविकता की तुलना में नष्ट हो चुकी थी ।

और वस्तुतः ऐक्वाइनैस को किसी प्रकार अरस्तू का पुनरुद्धारक नहीं कहा जा सकता । क्योंकि उसने प्राकृतिक नियम (Natural Law) की विचारधारा को, जो मूलतः तो ईसाई सम्प्रदाय की नहीं थी, परन्तु जो ईसाई चिन्तन की एक निर्णायक विचारधारा बन गई थी, सम्मिलित करके राज्य संस्था को एक प्राकृतिक संस्था मानने की अरस्तू की धारणा में सुधार किया था । यहां जो उसका विचारणीय विषय है उसको समझना कठिन नहीं है । प्रशासन अथवा सरकार के अधीन रहना मनुष्यों के लिए स्वाभाविक है; परन्तु प्रशासन संस्थाएं यदि

न्यायीय विचारों के प्रकृति का पूरा ध्यान समर्थन नहीं कर सकती और न्याय की कसौटी वह वस्तु है जिसका विधान स्रष्टा ने किया है और जो सभी मनुष्यों में विद्यमान विवेक बुद्धि से समझ में आ सकती है। दूसरे शब्दों में राज्यों का विधेयात्मक (निश्चित) कानून अथवा राज्य में प्रचलित कानून ऐसा होना चाहिए कि वह उन आधारभूत नैतिक सिद्धान्तों का समर्थन करे जिनको परम्परा से 'प्राकृतिक नियम' कहने की प्रथा है।

स्वयं अरस्तू ने भी कभी-कभी 'प्राकृतिक नियम' का उल्लेख किया था परन्तु इससे उसका अभिप्राय वह नहीं था जो ऐक्वाइनस का था; और अरस्तू के मन में ऐक्वाइनस की तरह, प्राकृतिक अधिकारों की कोई धारणा भी नहीं थी। अरस्तू की विचारधारा का आकार-प्रकार नगर राज्य की स्वभाविक विशेषता (Ethos) द्वारा निश्चित हुआ था; भद्र व्यक्ति ही भद्र नागरिक है; नैतिक नियम ही समाज का आदेश है— इस दृष्टिकोण में 'समाज स्वयं भद्र है अथवा अभद्र है, इस बात पर विचार-विमर्श करने का अवसर नहीं।

परन्तु अरस्तू तक भी इस विचारधारा से सन्तुष्ट नहीं था; न कई दूसरे यूनानी विचारक ही सन्तुष्ट थे। उदाहरण के लिए सोफोक्लीज के नाटक एंटिगोनी (Antigone) को लीजिए; इसमें किंग क्रीओं और एंटिगोनी का एक संवाद दिया गया है; किंग क्रीओ इस समय 'वैधानिक प्रत्यक्षवाद' (Legal positivism) नाम से प्रसिद्ध दृष्टिकोण का प्रतिपादन करता है और एंटिगोनी बाद में 'प्राकृतिक नियम तथा प्राकृतिक अधिकारों' के नाम से प्रसिद्ध सिद्धान्तों का समर्थन करती है। क्रीओं का दावा है कि यह नियम सम्राट् का आदेश है इसलिए उसका तो अवश्य ही पालन होना चाहिए; एंटिगोनी कहती है कि विधेयात्मक प्रचलित कानून यदि ईश्वर की आज्ञाओं के विरुद्ध हो अथवा मानव के आधारभूत अधिकारों का निषेध करता हो तो यह वैध नहीं होता (नाटक में वह यह दावा करती है कि उसके भाई को दफनाए जाने का स्वाभाविक अधिकार है)।

एंटिगोनी का जो दृष्टिकोण-सोफोक्लीज़ के बहुत से समकालीनों को
 अद्भुत प्रतीत हुआ था वह नगर राज्यों के पतन के पश्चात् स्टीडि-
 सम्प्रदाय के दार्शनिकों के लिए एक आम प्रचलित विचार बन गया और
 फिर रोम से होता हुआ ईसाई-सम्प्रदाय में पहुंच गया। ईसाइयों का
 ऐसी विचारधारा के प्रति आकर्षित होना स्पष्ट ही है; क्योंकि 'प्राकृतिक
 नियम' ही 'परमात्मा का नियम' समझा जा सकता है। ईसाई-सम्प्रदाय
 राज्य के विषय में तो नहीं, 'परमात्मा के नियम' के सम्बन्ध में तो
 प्रामाणिक है ही। और यदि एक बार चर्च को न्याय-अन्याय का अंतिम
 निर्णायक—पंच—मान लिया जाय तो राज्य से इसकी श्रेष्ठता और
 राज्य की आलोचना करने की इसकी प्रामाणिकता का आवश्यक हो
 जाना युक्ति-युक्त ठहरता ही है।

ऐक्वाइनैस ने जिस 'प्राकृतिक नियम' का स्पष्ट प्रतिपादन किया वह
 उसके सभी पूर्ववर्तियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों से अधिक परिष्कृत
 तथा विस्तृत था। यह बात तो नहीं है कि इसमें कुछ भी अस्पष्टता नहीं
 है, और इसकी अस्पष्टता का एक अंश इस कारण है कि ऐक्वाइनैस के
 सिद्धान्त में प्रकृति को दुहरी भूमिका दी गई है।

ऐक्वाइनैस की दृष्टि में 'प्राकृतिक नियम' वर्णन-प्रधान तथा आदर्श-
 त्मक—दोनों था, वह दैहिक भी था और आत्मिक भी था। प्रकृति,
 जो कुछ कृत्रिम है उसको छोड़कर, जिसका भी अस्तित्व है, वह सभी
 कुछ तो है ही, साथ में प्रकृति वह सब कुछ भी है कि जो होना चाहिए।
 एक 'प्राकृतिक नियम' तो वह है कि जो प्रवृत्त, प्रचलित अथवा प्रभावी
 रहता है दूसरा आदेश देता है, शासन चलाता है; एक विज्ञान का प्राकृ-
 तिक नियम तथा दूसरा आचार-शास्त्र का प्राकृतिक नियम। विज्ञान का
 'प्राकृतिक नियम' मनुष्यों को समाज में डालता है परन्तु आचार शास्त्र
 के 'प्राकृतिक नियम' का यह तकाजा रहता है कि प्रत्येक समाज न्याय-
 परायण समाज रहे। मनुष्य समुदायों अथवा समाजों में जीवन व्यतीत
 किए बिना रह नहीं सकते, मानवीयता की शर्त का यह एक अंश है परन्तु,

मनुष्यों की तो अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति भी है, इसलिए वे अपने समाजों की व्यवस्था अपने ही प्रयत्नों से युक्तियुक्त शैली पर अवश्य करेंगे और अपने समुदाय अथवा समाज को प्रकृति के लक्ष्यों के अनुरूप बनाएंगे।

ऐक्वाइनैस 'प्राकृतिक नियम' को 'शाश्वत नियम' तथा 'विधेयात्मक नियम' दोनों से भिन्न बताता है, और प्राकृतिक तथा अतिप्राकृतिक नियम में उसने जो भेद बताए हैं उनमें से कुछ का समझ लेना सदा सरल नहीं होता। उदाहरण के लिए, वह एक ओर तो यह कहता है कि प्रकृति के विधान के अनुसार पुरुष तथा स्त्रियां मिलकर परिवार बनेंगे और अपनी ही किस्म का प्रजनन करेंगे, परन्तु साथ ही वह यह भी आग्रहपूर्वक कहता है कि पुरोहिताई की वृत्ति का, जिसमें जीवन की इस प्राकृतिक पद्धति को छोड़ना पड़ता है, नैतिक मूल्य कुछ-न कुछ अधिक उच्च है परन्तु, जो ईसाई विचारक, पादरियों को 'दार्शनिकों' द्वारा प्रशासित समाज में प्लेटो के संरक्षकों का अभिनय करते देखना चाहते हैं ऐक्वाइनैस उनका सख्त विरोधी है। अरस्तू की भांति ऐक्वाइनैस भी ऐसे शेखचिल्ली-सरीखे सपनों को नहीं सहन कर सकता, वह सरकार के उन 'प्राकृतिक' रूपों को मानता है जिनका इतिहास में अनुभव किया जा चुका है।

फिर, यद्यपि वह उस वाद का खण्डन करता है कि जिसके अनुसार समाजों की उत्पत्ति एक सामाजिक संविदा से होती है, फिर भी वह आशा रखता है कि एक न्यायपरायण समाज के वास्तविक संविधान में एक स्पष्ट संविदात्मक तत्व होना चाहिए, "यह उचित ही है कि नियम को सबके हित के लिए दिया गया प्रथम तथा प्रमुख अध्यादेश माना जाय, और ऐसा आध्यादेश देने का अधिकार या तो सारे जनसमुदाय को है अथवा सारे जन-समुदाय के किसी प्रतिनिधि को ही है"।

इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि ऐक्वाइनैस कोई प्रजातन्त्र-

१. 'सुम्मा थियोलाजिका' II-I, 90, 3, ।

वादी था क्योंकि वह प्रजातन्त्रवादी था ही नहीं। उसकी सम्मति में तो सर्वोत्तम इहलौकिक नगर, स्वर्ग की भांति राजतन्त्र ही होगा। फिर भी वह इस बात पर बल देता है कि प्रशासन प्रतिनिध्यात्मक हो, इसका आधार सहमति होना आवश्यक है। निस्सन्देह, वह इतना तक कह देता है कि राजतन्त्र का संगठन चुनाव के आधार पर होना चाहिए। परन्तु साथ ही वह एक कुलीन वर्ग को नेतृत्व तथा प्रशासन का विशेष कर्तव्य प्रदान करता है। यहां हम फिर यह अनुभव करते हैं कि उसकी इस मान्यता में राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के निश्चित तत्वों वाले एक 'मिश्रित संविधान' की प्रतिध्वनि विद्यमान है।

यद्यपि ऐक्वाइनैस इस विषय में बहुत-सा विवेचन करता है कि किसी न्यायपरायण समाज की व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, पर साथ ही वह यह भी कभी नहीं भूलता कि वास्तविक संसार में कतिपय प्रशासन अत्याचारी हैं। वह यह सुझाव कभी नहीं देता कि एक ईसाई केवल किसी सच्चे ईसाई अथवा न्यायपरायण प्रशासन के आदेशों का पालन करने को बाधित है। क्योंकि प्रशासनों (सरकारों) के आदेशों का पालन तो एक प्राकृतिक व्यवस्था ही है और एक ईसाई तो किसी शासन के केवल उसी आदेश का उल्लंघन कर सकता है जो स्पष्ट रूप से 'प्राकृतिक नियम' से भिन्न है। जो नियम न्याय्य नहीं हैं वे सामान्यतः वैध नहीं होते। ऐक्वाइनैस तो वस्तुतः उस आदेश को 'नियम' अथवा 'कानून' ही नहीं कहना चाहता जो न्याय के आधारभूत प्रमुख नियमों के विरुद्ध हो : "इस प्रकार के नियम, नियम नहीं, हिंसामय कृत्य ही, कहलाते हैं—यदि इनका अनुपालन सार्वजनिक निन्दा अथवा सार्वजनिक गड़बड़ से बचने के लिए आवश्यक न हो तो वे बुद्धि में पैठते ही नहीं हैं।"

यह स्पष्ट नहीं है कि ऐक्वाइनैस उस विचारधारा को कहां तक

१. "सुम्मा थियोलाजिका"—Ia, IIae, 96, 4.

उचित समझता है जो वाद में अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह के अधिकार की विचारधारा के नाम से प्रसिद्ध हुई, परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि ऐक्वाइनैस ने किसी अत्याचारी की आज्ञा का पालन करने के लिए मनुष्य के बाधित होने का कारण दूरदर्शिता अथवा व्यवहारकुशलता के अतिरिक्त और कोई दूसरा कारण नहीं समझा। “दूरदर्शिता विचाराधीन विषय विशेषों पर सिद्धांतों का प्रयोग करती है, इसीलिए यह किसी नैतिक प्रयोजन की स्थापना नहीं करती, केवल उसके साधन का आविष्कार करती है।” वह सम्भवतः अत्याचार के प्रति अन्धाधुन्ध संघर्ष का अथवा नासमझ ‘सविनय अवज्ञा’ का समर्थन नहीं करता।

ऐक्वाइनैस ने बाद के दार्शनिकों की भांति ‘मानव’ के प्राकृतिक अधिकारों की गिनती कभी नहीं की, न वह उन विचारकों से ही सहमत होता कि जिन्होंने लॉक की भांति उन अधिकारों को संक्षेप में जीवन स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार बताया है। ऐक्वाइनैस ने जीवन के अधिकार को तो निश्चय ही स्वीकार किया और वस्तुतः उसने इसका लॉक के किए विस्तार से भी अधिक समृद्ध विस्तार किया। लॉक की दृष्टि में तो जीवन के अधिकार का अर्थ केवलमात्र दूसरों द्वारा किए गए अत्याचारों से परिरक्षण का अधिकार ही था। परन्तु ऐक्वाइनैस की दृष्टि में यह अधिकार, जीने का कर्तव्य तथा जीवनयापन की आदरणीय समुचित पद्धति की प्राप्ति का अधिकार, दोनों था। इस प्रकार जहां लॉक ने स्पष्ट ही इस बात का निषेध कर दिया था कि जीने के अधिकार का यह भी अभिप्राय है कि भुखमरी से सताये व्यक्ति को रोटी का टुकड़ा चुराने का अधिकार है, ऐक्वाइनैस यह मानता था कि यदि भूखा मरता व्यक्ति वह रोटी का टुकड़ा लेकर खा ले, जो निश्चयात्मक नियम के अनुसार दूसरे का है, तो भी वह चोरी नहीं होगी^१।

१. “सुम्मा थियोलाजिका”—IIa, IIae, 47, 7.

२. “सुम्मा थियोलाजिका”—IIa-IIae, 66, 21 तथा गिलवाइ की पूर्व पुस्तक का पृष्ठ 156 भी देखिए।

निरस्तुत ऐक्वाइनैस अपने मध्यवर्णी अनुयायियों के विपरीत, साम्प्रतिक अधिकार को मनुष्य का एक प्राकृतिक अधिकार मानने का बिल्कुल अनिच्छुक था। निश्चय ही, सम्पत्ति-अधिकार सरीखी कोई वस्तु तो अवश्य थी, परन्तु यह प्राकृतिक नियम में ही एक जोड़ी हुई वस्तु थी, दूरदर्शिता का एक साधन थी, और इस विशुद्ध उपयोगितात्मक प्रयोजन पर आधारित थी कि निजी सम्पत्ति से आर्थिक उन्नति होती है और सबकी भलाई होती है। इसलिए, जीने के अधिकार-सरीखा सच्चा प्राकृतिक अधिकार इस अतिरिक्त अधिकार की अपेक्षा, नैतिकता के क्षेत्र में, कहीं अधिक वाधित करने वाला—बलात् प्रेरक होता है; इसीलिए भूखे व्यक्ति का वह दावा न्यायपरक है—जिसके अनुसार वह उस वस्तु को ग्रहण करता है जो उसको नहीं दी गई है।

ऐक्वाइनैस, सूदखोरी (कुसीद) पाप है—इस ईसाई-शिक्षा का पुनः समर्थन करके बाद के अधिक उदार सिद्धान्त से अपना मतभेद और भी अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट करता है; और इसमें वह एक अच्छी सी अरस्तू की-सी युक्ति देता है। व्याज (कुसीद) पर रुपया उधार देना एक बड़ा पाप है... इसका कारण यह है कि यह प्राकृतिक न्याय के विरुद्ध है। क्योंकि जो व्यक्ति यह समझकर रुपया उधार देता है कि यह उसको वापस मिल जाएगा और इसके अतिरिक्त इसके प्रयोग के लिए कुछ शुल्क भी लेता है... वह एक ही वस्तु को दोबारा बेचता है और यह बात स्पष्ट ही प्राकृतिक न्याय के विरुद्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि, ऐक्टन ने, जैसा उसको 'पहला' 'द्विग' बताया था वैसा 'द्विग' अर्थात् संसदीय प्रणाली-वादी उदारदली तो वह बिल्कुल भी नहीं था।

फिर ऐक्वाइनैस 'स्वतन्त्रता के प्राकृतिक अधिकार' के विषय में भी बाद के सिद्धान्तकारों की-सी बात नहीं करता है। स्वतन्त्रता को वह व्यक्ति का अहस्तान्तरणीय अधिकार न मानकर एक न्यायपूर्वक संस्थापित राष्ट्रमण्डल का एक अंग मानने को तैयार था। वस्तुतः तो, अपने कुछ अधिक व्यक्तिवादी राजनीति-विरोधी पूर्ववर्तियों के विपरीत यह सिद्ध

करना उसके लक्ष्य का एक अंग बना रहा कि स्वतन्त्रता तथा प्रशासन साथ-साथ चलते हैं और किसी राजनीतिक समुदाय अथवा समाज में, मनुष्य का दूसरे के अधीन होना, वैसा ही नहीं है जैसी कि दास-प्रथा में एक मनुष्य की दूसरे की आधीनता होती है। और वह यह प्रतिपादित करता है कि स्वतन्त्रता तथा प्रशासन का सफल संयोग तब होता है जब कि शासनकर्ता व्यक्ति दूसरों को इस रीति से निर्देश देता है कि जिससे उनका अपना भला होता हो अथवा सबकी भलाई होती हो। क्योंकि ऐसा करने में, शासक, लोगों को वैसे ही कार्य करने का निर्देश देता है जैसे कि वे लोग स्वयं कार्य करना चाहते; और इस प्रकार उचितरूप से शासित समाज में, लोग जो कुछ करना चाहते हैं उसमें तथा उन्हें जो कुछ करना चाहिये उसमें—प्राकृतिक प्रेरणाओं और प्रकृति के लक्ष्यों में—एक सामञ्जस्य उत्पन्न हो जाता है।

माक्यावेली

(अर्नेस्टो लैण्डी)

माक्यावेली सदा ही बदनाम रहा आया है। 'माक्यावेली' हाना मक्कारी में सर्वथा निस्संकोच होना माना जाता रहा है। यूरोपीय नाटक साहित्य में 'माक्यावेल' मूढ़ नीच पात्रों में से अन्यतम है, कहीं-कहीं ता यह वस्तुतः 'शैतान' का ही पर्यायवाची है। 'ओल्ड निक' वस्तुतः ओल्ड-निकोलो अथवा—निकोलो माक्यावेली है जो १४६९ में उत्पन्न हुआ था और जब १५५८ को परलोक सिंघारा तो फ्लोरेन्स की सरकार का राज्यमन्त्री तथा कूटनीतिज्ञ था; इसने दूसरे कई ग्रन्थों के अतिरिक्त "डिस्कॉर्स ऑन लिवि" [लिवि पर प्रवचन], "ए हिस्ट्री ऑव फ्लोरेन्स" [फ्लोरेन्स का इतिहास] तथा वह कुख्यात लघु निबन्ध 'दि प्रिंस' [राजकुमार] लिखा।

'दि प्रिंस', जिसका अब तक खूब व्यापक प्रचार है, माक्यावेली की वस्तुतः वह अकेली रचना है कि जिसका पठन सदा व्यापक रूप से होता रहा है और वही उसकी बदनामी का कारण भी हुई है तो भी उसकी सभी रचनाओं में से यही अकेली वह पुस्तक है जो उसकी चिन्तनधारा के रुख का, कम से कम निश्चित स्वरूप प्रस्तुत करती है। 'दि प्रिंस' के सच्चे अर्थ के विषय में उतनी ही प्रकल्पनाएं हैं जितने कि इस विषय के विद्वान् हैं। हां, सभी विद्वान् एक बात पर सहमत हैं : उसका प्रभाव कितना ही कलंकित क्यों न रहा हो वास्तविक माक्यावेली, निस्सन्देह, वह दुष्ट व्यक्ति नहीं है जो परम्परा से प्रसिद्ध है। इस बात को मन में बैठाने के लिए वस्तुतः इतना ही पर्याप्त है कि उसकी उन पुस्तकों को पढ़ लिया जाय कि जिनको उसने स्वयं इतना महत्व प्रदान किया—अर्थात् 'डिस्कॉर्स' तथा 'हिस्ट्री ऑव फ्लोरेन्स' को पढ़ लिया जाय।

इन दो पुस्तकों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि माक्यावेली अधार्मिक, अनैतिकतावादी अथवा राजतन्त्रीय अत्याचार का निर्मम योद्धा

ही नहीं था, वह वस्तुतः एक सरगर्म रिपब्लिक-समर्थक और 'मानवतावादी' था। यदि उसके कुछ प्रशंसकों का रुख उसको एक 'दार्शनिक' का पद न देने का रहा तो भी वह राजनीतिकवाद के क्षेत्र में एक नये राजनीतिकवाद का सच्चा प्रवर्तक तो था ही। और प्लेटो के आगे के इस विषय के सर्वोत्तम लेखकों में से अधिकतर की भांति माक्यावेली को भी एक विवादात्मक सिद्धान्त और साथ ही एक व्याख्यात्मकवाद के प्रतिपादन करना था, वह अपने पाठकों को प्रभावित करना चाहता था, और साथ ही उनके ज्ञान में कुछ वृद्धि भी करना चाहता था। वह नैतिकतावादी था और साथ ही विद्वान् था। यह निर्णय करना सरल नहीं है कि इस बात में उसका कितना दोष है कि उसका नैतिक प्रभाव उस दिशा में नहीं पड़ा जिसमें वह स्वयं चाहता कि पड़े।

माक्यावेली धर्म का विरोधी नहीं था; वह ईसाइयत के विरुद्ध था। इसके अतिरिक्त वह ईसाइयत के विरुद्ध नैतिक आधार पर था, क्योंकि ईसाई धर्म ने 'सद्गुण' की शिक्षा नहीं दी अथवा उसको प्रोत्साहित नहीं किया। निस्सन्देह वह इस अर्थ में एक 'यथार्थवादी' [Realist] था कि उसने मानव स्वभाव तथा राजनीतिक संस्थाओं के विषयों में तथ्य के रूप में जो भी कुछ देखा, वह भले ही कितना अनाकर्षक रहा हो, उसी पर बल दिया। परन्तु वह 'आदर्शवादी' अथवा कल्पना प्रिय भी था। उसने जिस प्रकार की लोकतन्त्र प्रणाली का प्रतिपादन किया वह उस अतितुच्छ, व्यापारिक राजनीतिक समाज की नकल करने की उसकी अभिलाषा का परिणाम नहीं थी जिसको वह अपनी आँखों से वीनिस में देख चुका था; इसके विपरीत, यह उसकी उस प्रकार की लोकतन्त्री प्रणाली को पुनः जीवित करने की इच्छा का परिणाम था जिसके विषय में वह इतिहास की पुस्तकों में पढ़ चुका था और जो उसकी कल्पना के अनुसार रोम में प्रतिष्ठित आदिकाल में विद्यमान रह चुकी थी। माक्यावेली इस अर्थ में एक आरम्भिक राजनीतिक वैज्ञानिक था कि वह यह मानता था कि मानव-व्यवहार के नियमों को अनुभव से

सीलिया का सफलता है; परन्तु उसमें यह आशा प्रकट की कि इस शिक्षाओं का उपयोग किसी उदात्त प्रयोजन के लिए, अर्थात् आधुनिक इटली में प्राचीन रोम के-से यशस्वी लोकतंत्र की स्थापना के प्रयोजन के लिए, किया जा सकेगा ।

माक्यावेली जब अभी तरुण ही था और उसने अपनी जीवन यात्रा एक असैनिक कर्मचारी के रूप में आरंभ ही की थी तब फ्लॉरेन्स में एक दूसरे प्रकार की लोकतन्त्री सरकार की स्थापना का प्रयत्न सावोनारोला कर चुका था । सावोनारोला एक सरल, शुद्ध-पवित्र विशुद्धिवादी प्यूरिटन ईसाई था; उसने फ्लॉरेन्स को, एक प्रकार की प्रतिबन्धक व्यवस्था तथा आर्थिक नियन्त्रणों की प्रणाली द्वारा नैतिकता तथा मानव-प्रेम दोनों को प्रचलित करके, एक सद्गुणी लोकतन्त्र बनाने की कोशिश की थी । कुछ समय तक तो उसको पर्याप्त सफलता मिली, परन्तु उसका प्रभुत्व उसकी तिलस्मी वीरता पर इतना अधिक निर्भर था कि जितना उसको अनुभव भी नहीं हुआ और जहां उसने चमत्कार दिखाने का निषेध किया कि फ्लॉरेन्स के लोग उसके विरोधी हो गए और उसको जीवित जला दिया गया ।

माक्यावेली, सावोनारोला की मृत्यु के समय अठ्ठाईस वर्ष का था, उसने उसकी गतिविधि से कई शिक्षाएं ग्रहण कीं । प्रथम तो सावोनारोला के पतन से माक्यावेली एक निरस्त्र भविष्यद्वक्ता की अक्षमता को आंखों से देखकर अत्यधिक सतर्क—शायद सीमातीत रूप से सतर्क—हो गया; उसको इस बात की आवश्यकता का बोध हो गया कि राजनीति में तलवार तथा शब्द, दोनों पर भरोसा रखने की आवश्यकता है इसी बात को और अधिक स्पष्ट कहें तथा माक्यावेली की पद्धति से कहें—क्योंकि उसे 'तलवार' सरीखी काव्य पदावली पसन्द नहीं थी—तो यह कहेंगे कि राजनीति में हिंसा की आवश्यकता का बोध हो गया था । दूसरे यह कि सावोनारोला के किए पवित्र प्रयोग को देखकर माक्यावेली नैतिक

Digitized by Anva Samaj Foundation Chennai and eGangotri
 उपदेशों के रूप में ईसाइयत और धार्मिक संस्था के रूप में चर्च से और अधिक घृणा करने लगा ।

अकेला माक्यावेली ही पोपों और पादरियों के सुस्पष्ट भ्रष्टाचार को इटली की नैतिक भलाई का विरोधी नहीं समझता था । और वही वह अकेला इतालवी राष्ट्रवादी नहीं था जिसने देशभक्ति की भावना के आधार पर पोपशाही पर आपत्ति प्रकट की हो—क्योंकि उसका यह मत था कि पोप इतना निर्बल था कि इटली को अपने नेतृत्व में एक नहीं कर सकता परन्तु किसी दूसरे के नेतृत्व में इटली के एक होने के रोकने के लिए वह पर्याप्त बलशाली था ।

माक्यावेली द्वारा चर्च का विरोध, इन दोनों, जरा घटिया किस्म के आक्षेपों से अधिक मौलिक तथा अधिक क्रांतिकारी—दोनों—था । वस्तुतः तो चर्च के राजकुमारों की नैतिक दुश्चरित्रता की उसको अधिक चिंता नहीं थी; उसको तो सावोनारोला सरीखे ईमानदार व्यक्तियों द्वारा अपनाई गई विशुद्ध तथा अभ्रष्ट ईसाइयत पर आपत्ति थी । क्योंकि माक्यावेली को विश्वास हो गया था कि ईसाइयत—अपने सर्वोत्तम रूप में भी—गलत सद्गुणों को सिखाती है । इसने दीनता की वैराग्य की, आधिभौतिक सुखों अथवा विषयसेवा के त्याग की, एक गाल पर चांटा पड़ने पर दूसरी गाल, मारने वाले की ओर कर देने की और मृत्यु के पश्चात् परलोक में सुख प्राप्ति की आशा लगाने की शिक्षा दी थी ।

सद्गुण के विषय में माक्यावेली की अपनी धारणा इस ईसाई-आचारनीति से बहुत ही भिन्न प्रकार की थी । उसको मनुष्य की भद्रता तथा इस लोक में जीवन की यशस्विता से प्रेरणा मिली थी; और उसका विश्वास यह बना हुआ था कि यह भद्रता दीनता में नहीं, गर्वमें; पाप सहने में नहीं अपितु इसका बदला लेने में; वैराग्य में नहीं, साहसपूर्वक जीवन व्यतीत करने में; प्रार्थना में नहीं, कर्म करने में; शरीर को ढांपकर वैरागियों की तरह मंठों में रेंगते फिरने में नहीं, अपितु एक गर्व का कारणभूत युद्ध-क्वच पहन कर मानव के निश्चय ही विशिष्ट एवं एक

आदर्श मर्मिक के पुरुषार्थ, साहित्य, वीरता तथा उसके यश में प्रसन्न होने में है।

माक्यावेली जब भी कभी 'सद्गुण' की बातें करता था उसके मन में यही सब बातें रहती थीं, और यह सोचते हुए कि (जैसा कि औरों ने सोचा है) नैतिक उपदेश तथा धर्म को अवश्य ही साथ-साथ चलना चाहिये, उसने ईसाइयत को पुराने चलन का धर्म बताकर उसको दूर फेंककर और उसके स्थान पर प्राचीन रोम के धर्म तथा उसकी धार्मिक संस्थाओं के आधार पर धर्म तथा धर्म-संस्थाओं की स्थापना करके सोलहवीं सदी की इटली में अपने ढंग की लोकतन्त्री व्यवस्थाओं को प्रोत्साहित करने की आशा रखी। प्राचीन रोम के धर्म से अभिप्राय यहां उस 'नागरिक धर्म' से है जिसका मुख्य प्रयोजन देश-भक्ति की भावना तथा सद्गुण को प्रोत्साहित करना हो।

ऐसा था माक्यावेली का मनोरथ—और यह अपने ढंग से सर्वथा उतना ही आदर्शात्मक था जितना कि सावोनारोला का था और इसमें तथा 'उच्च नवयुगीन कला से उपलब्ध मानववादी प्रेरणा में कई एक समानताएं थीं। परन्तु माक्यावेली ने राजनीतिक सम्भवता की सूझबूझ से, असेैनिक कर्मचारी के रूप में जीवन भर में उपलब्ध सूझ-बूझ से, इसको सुधार लिया था। दोनों में कुछ विरोध है। लोकतन्त्रीय यश का माक्यावेली का स्वप्न उच्च तथा महान् है; और राजनीतिक दृष्टि से क्या कुछ सम्भव है इस विषय में उसकी धारणा परम सतर्कता से बनाई गई है। उदाहरण के लिए वह कहता है कि लोकतन्त्री सरकार का अस्तित्व तभी सम्भव है जबकि जनता लोकतन्त्री जीवन के हेतु नैतिक दृष्टि से समर्थ हो। वह देखता है कि उसके बहुत से समकालीन ऐसे समर्थ नहीं हैं। और एक रात भर में ही उनको समर्थ बनाया भी नहीं जा सकता। लोकतन्त्री सरकार का मुख्य लक्षण स्वतन्त्रता है और जिस जनता को इसकी आदत नहीं है उसको अचानक स्वतन्त्र कर देना भयावह है :

“योंकि हेसी जगत उस जंगली जम्बव से मिली भी बात में भिन्न नहीं होती जो प्रकृति से तो अवश्य ही भयानक तथा जंगल में रहने का अभ्यस्त होता है, परन्तु उसे कैद में तथा दासता में पाला गया है और फिर स्वेच्छा से इधर-उधर विचरने के लिए मुक्त कर दिया गया है, और जो अपना भोजन आप ढूँढ़ लेने का अभ्यासी न होने से तथा आश्रय के लिए कोई स्थान न पाकर, पहले मिलने वाले उस व्यक्ति का शिकार बन जाता है जो इसको फिर से बांध लेना चाहता है” ।”

इस उद्धरण से यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि माक्यावेली क्रांतिकारी पद्धतियों का सदा विरोधी है। उसके विचार में ऐसे समय आते हैं जबकि लोकतन्त्र की स्थापना के लिए क्रांति ही उचित होती है—और इसी सन्दर्भ में उसने अपनी कुछ अत्यन्त कुख्यात टिप्पणियाँ हिंसा की आवश्यकता के विषय में की हैं। उदाहरण के लिए वह कहता है कि क्रांतिकारियों के लिए यह बात विशेष रूप से महत्वपूर्ण होती है कि वे क्रांति के सभी शत्रुओं तथा प्रसुप्त एवं अव्यक्त शत्रुओं को मार डालें—और क्रांतिकारी युद्ध की उग्रता के समय शीघ्र ही मार डालें। उसके अपने शब्द इस प्रकार हैं :

“किसी राज्य की स्वतन्त्र तथा अभी नई बनी सरकार की विरोधी, मित्र नहीं, दलबन्धियाँ बन जाना स्वाभाविक है। उस अवस्था में यदि कोई यह चाहे कि ये कठिनाइयाँ हल हो जायं तो इससे अधिक अच्छा और निश्चित अधिक सुरक्षित अथवा अधिक आवश्यक दूसरा कोई मार्ग नहीं है कि ब्रूटस के पुत्रों को मार दिया जाय ।...”

यहां ‘ब्रूटस के पुत्र’ माक्यावेली के स्पष्टीकरण के अनुसार वे सब हैं जो लोकतन्त्र की अपेक्षा राजा की आधीनता में अधिक अच्छे रहते हैं और जिनके लिए ‘जनता की स्वतन्त्रता’ का अर्थ, उनके दृष्टिकोण से

१. डिस्कोर्सस—(अनु. जे. वाकर) खंड १, अध्याय १६, परिच्छेद १

२. डिस्कोर्सस—(अनु. जे. वाकर) खंड १, अध्याय १६, परिच्छेद ४

केवल दासता ही है।" इस तर्क का यह अर्थ नहीं है कि माक्यावेली को रक्तस्नान की धारणा में रस आता है। वह इसमें रस नहीं लेता है। उस का कहना यह है कि यदि क्रांतिकारी लोकतन्त्र के सभी शत्रुओं का एक ही चुस्त लपेट में सफाया न कर दें तो उन्हें बाद में लगातार निष्कासनों तथा मुकदमों द्वारा उनमें व्यस्त रहना पड़ेगा। यह पिछला उपाय केवल कम अच्छी पद्धति ही नहीं है अपितु इससे राज्य का साहस, विश्वास तथा शांति अवश्य ही भंग होंगे। माक्यावेली यद्यपि हिंसा पर बल देता है और यह मानता है कि राज्य हिंसा पर निर्भर रहता है, परन्तु वह हिंसा को पसन्द नहीं करता; वह यथासम्भव कम से कम हिंसा चाहता है। इसी पसन्दगी के कारण वह अन्यत्र तर्क करता है कि शक्ति की अपेक्षा कपट अच्छा है अथवा दूसरे शब्दों में, कूटनीतिज्ञता वह कितनी ही बेढब क्यों न हो, युद्ध से अच्छी होती है। क्योंकि बुद्ध के साथ मृत्यु, कष्ट और विनाश का और, निस्सन्देह, हार की आशंका का भी, आगमन होता है।

यह बात, सम्भवतः, असंगत प्रतीत होती है (यद्यपि असाधारण तो नहीं है) कि वह एक ओर तो युद्ध को नापसन्द करता है और दूसरी ओर सैनिकवाद से भी प्रेम करता है। क्योंकि रोम के गौरव चित्र की भांति माक्यावेली का गौरव-चित्र भी निश्चित रूप से सैनिक ही है; जिस सद्-गुण की वह प्रशंसा करता है वह कुछ ऐसी वस्तु है जिसकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति सैनिक जीवन में होती है। यहां वह भूतिभोगी सैनिक संस्थाओं पर आक्रमण करता है—इनका उस समय के इटली देश में खूब प्रयोग होता था—और राष्ट्रीय व्यवसायी सेनाओं की रचना की ओर ध्यान दिलाता है। उसका यह विश्वास है कि राष्ट्रीय धर्म की भांति, राष्ट्रीय सेना भी जनता में देशभक्ति, शौर्य, गर्व और पौरुष की भावना जाग्रत करने का काम करेगी। यहां पर यह संदेह हो जाता है कि शायद माक्यावेली शस्त्रों से उपलब्ध होने वाले सारे गौरव को युद्ध के कष्टों को भेले बिना ही उपलब्ध करना चाहता है।

और तो भी गौरव के उसके बनाए चित्र में से विजय की धारणा

का विचार करना वस्तुतः सम्भव है कि वह उनके प्रान्तों में बनी रक्षात्मक सेनाओं की कल्पना उसको आकृष्ट नहीं करती। इस प्रकार लोकतन्त्र की उसकी विचारधारा साम्राज्यवाद की विचारधारा बन जाती है। उसका कहना है कि लोकतन्त्र को अपना प्रदेश बढ़ाने का यत्न करना ही होगा; हां, यदि शांति अभीष्ट समझी जाय (जैसा कि माक्यावेली भी इसको अभीष्ट समझता था) तो इस बात को सभी लोकतन्त्रों के लिए एक सार्वभौम नियम मानना तो निश्चय ही अयुक्ति-युक्त ही होगा।

और तो भी राजनीति-विज्ञान में बने हुए ऐसे सार्वभौम नियम ठीक वही हैं जिनको राजनीतिक विज्ञानविद् के भेष में माक्यावेली ने खोज निकाला था। उसने अपने आपको इस रूप में राजनीतिविज्ञान का गैलीलियो समझा कि प्रेक्षण द्वारा, विशेषतया इतिहास में खोजी जाने वाली नियमितताओं के प्रेक्षण के द्वारा, राजनीतिक संस्थाओं की कार्य प्रणालियों को समझने की नई रीति प्रस्तुत की। परन्तु माक्यावेली के ध्यान में वह बात नहीं आई कि जैसे गैलीलियो ग्रहों की भावी गतिविधि की भविष्यवाणी कर सका था वैसे ही वह भी मानव जाति के 'भावी इतिहास' को पहले ही बता सकेगा। उसका लक्ष्य मार्क्स के उस लक्ष्य के अधिक समीप रहा जो उसने कई सौ वर्ष पश्चात अपनाया था : अर्थात् इतिहास के शाश्वत नियमों को जानकर भविष्य पर नियन्त्रण करना, राजनीति में अपेक्षतया अधिक शक्तिशाली बनना; परन्तु निश्चय ही आडम्बरपूर्ण मार्क्स के ढंग से नहीं अपितु उस किसान के नमूने पर जो प्रकृति के ढंगों की जानकारी प्राप्त करके प्रकृति को बश में कर लेता है।

कारण कि माक्यावेली इन अर्थों में एक राजनीतिक विज्ञानविद् है, इसीलिए वह एक प्रतिक्रियावादी निरंकुश शासक को भी उतना ही सिखा सकता है जितना कि उन लोगों को सिखा सकता है जो उसकी अपनी लोकतन्त्री उच्चाकांक्षाओं में साक्षीदार हैं, और वस्तुतः 'दि प्रिन्स' में उसने अपने विज्ञान की शिक्षाओं का प्रयोग एक एकतन्त्री शासक की

शिक्षा में इसी प्रकार किया है। माक्यावेली ने कितने वैराग्य अथवा छल अथवा ईमानदारी से यह जोखिम उठाई थी—यह कल्पना ही की जा सकती है। माक्यावेली ने 'दि प्रिन्स' पुस्तक १५१३ में तब लिखी थी जबकि वह एक क्रान्तिकारी षड्यन्त्र में तथाकथित सामेदारी के अपराध में फ्लोरेन्स राज्य की सेवा से निष्कासित किया जाने के बाद तस्कानिया के एक देहात में निर्वासित का जीवन बिता रहा था। यह पुस्तक शासक मेडिसी वंशीय राजकुमार के नाम लिखे गए एक पात्र के रूप में थी और लेखक के जीवन काल में प्रकाशित नहीं हुई थी। यदि उसको यह ज्ञान होता कि यह प्रकाशित होगी तो उसको यह ज्ञान भी अवश्य होता कि प्रकाशन के पश्चात् यह जिस प्रकार के व्यक्ति के नाम लिखी गई है उसके किसी भी काम की नहीं होगी, क्योंकि इसमें राजकुमार के सम्मुख सफलता का एक रहस्य प्रस्तुत किया गया है—जो यदि रहस्य न रहता तो सफलता प्राप्त नहीं करा सकता था।

माक्यावेली निश्चय ही एक कुटिल व्यक्ति था, जो कुछ उसने कहा है उसका अधिकांश, यदि अक्षरशः लिया जाय तो कुत्सित तथा भयावह है। उसके बाद में शायद सबसे अधिक निर्लज्ज तथा सबसे अधिक मौलिक भी, सुझाव यह है कि संसार में नैतिकता एक नहीं है (जैसा कि सभी पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने सुझाया था), परन्तु दो नैतिकताएं हैं—राजनीतिक नैतिकता तथा निजी नैतिकता। इसी सिद्धान्त के आधार पर वह यह तर्क उपस्थित करता है कि जो बातें—हिंसा, असत्य, संविदा-भंग आदि—निजी नैतिकता से ठीक ही वर्जित हैं, वे ही राजनीतिक नैतिकता द्वारा समय पड़ने पर न केवल अनुमत ही होती हैं, अपितु आवश्यक भी ठहरा दी जाती हैं। इस अन्तर की स्थापना के कारण माक्यावेली की रचनाओं में स्पष्टता तथा ईमानदारी की यह मात्रा विद्यमान है जो उन लेखकों की कृतियों में विशेष रूप से अनुपस्थित है जो माक्यावेली द्वारा अनुमत सबसे अधिक क्रूर कार्य प्रणाली को अपनाने को तो तय्यार हैं परन्तु जिन्होंने माक्यावेली के मत का क्रोधपूर्वक खण्डन कर दिया है।

उदाहरण के लिए, अपने अत्यन्त रक्तरंजित राजनीति-विज्ञान को न्याय्य ठहराने के लिए राबसप्येअर तथा स्तालिन यह बात स्वीकार नहीं करेंगे कि 'वे ब्रूटस के पुत्रों की हत्या कर रहे हैं।' राबसप्येअर का आतंक एक 'प्राणघातक बैचैनी' था, यह एक 'क्रियान्वित भाईचारा' था, यह मारण कभी नहीं था, स्तालिन के मुकदमे 'जनता का न्याय' थे, अपाकरण' अवश्य हुए—परन्तु किसी को कभी मारा नहीं गया था। यदि केवल एक ही नैतिकता होती तो राजनीतिक शासकों को और विशेषकर क्रान्तिकारी शासकों को, लगातार उस नैतिकता का ही केवल मुकाबला नहीं करना पड़ता जो उनके कथन के अनुसार समर्थित है, अपितु उन्हें अपने दूसरे पापों में कपट को भी बढ़ा लेना पड़ता। माक्यावेली यहां एक बौद्धिक विकल्प उपस्थित करता है, परन्तु यह वह विकल्प है जिसके समझने वाले, आश्चर्य है कि, बहुत ही थोड़े हैं। यह गिनती शायद इस कारण कम है कि जिस ईसाई—तथा यूनानी प्रथा से यूरोप वालों की विचारधारा बनी है उसी विचारधारा से एक अत्यन्त आमूलचूल विच्छेद को यह विकल्प अपरिहार्य बना देता है।

हॉब्स

[जे० डब्ल्यू० एन० वाट्किन्स]

हॉब्स की रचना 'लीवाइ-ए-थैन' (Leviathan) १६५१ में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक के अन्त में उसने यह टिप्पणी दी थी कि "उसकी यह पुस्तक आजकल की अन्यवस्थाओं की उपज है।" पिछले दशक में इंग्लैंड विद्रोह और गृह-युद्ध के बहुत निकट पहुंच गया था अथवा उनमें व्यस्त रहा था अथवा उनके परिणाम को भुगतता रहा था। जैसा कि इसके नाम से सूचित होता है, 'प्यूरिटन' (शुद्धतावादियों का) विद्रोह, शेष दूसरी बातों के अतिरिक्त, कतिपय धार्मिक मान्यताओं और मांगों से, भड़का था। यद्यपि बीसवीं सदी के मापदण्ड के अनुसार तो यह कोई बहुत अधिक खूनी विद्रोह नहीं था, तो भी यह उन अंग्रेजों को पर्याप्त भीषण प्रतीत हुआ जो इस विद्रोह की अवधि में जीवित रहे। मस्तक बहुत से तो लोटपोट अवश्य नहीं हुए परन्तु राजा के मस्तक-समेत कुछ तो लोटपोट हुए ही।

जब ये आपत्तियां आरम्भ हुईं उस समय हॉब्स पेरिस में एकान्त-वास ले चुका था। बाद में, प्रथम चार्ल्स ने अपने पुत्र चार्ल्स को पेरिस भेज दिया और हॉब्स उसका निजी शिक्षक बन गया। १६४९ में चार्ल्स प्रथम का सिर काट लिया गया। निस्सन्देह, इस कृत्य से दूसरे लोगों की भांति हॉब्स को भी धक्का लगा। परन्तु जब दो वर्ष बाद उसकी पुस्तक 'लीवाइ-ए-थैन' प्रकाशित हुई तो उस समय उसने यह दावा नहीं किया कि तरुण चार्ल्स द्वितीय को उसका राज्य लौटाया जाय। इसके विपरीत, उसने जिन सिद्धान्तों से चार्ल्स प्रथम के विरुद्ध विद्रोह को निन्दित ठहराया उन्हीं से उन लोगों के विरुद्ध विद्रोह की भी उतनी ही भविष्यवाणी की जो अब अधिकारारूढ़ थे। अन्तिम अध्याय में हॉब्स ने स्पष्टतया यह कहा कि किसी प्रजाजन का कोई पहले का सम्राट् जब उसकी रक्षा करने में समर्थ नहीं रहता तब वह विजेता के प्रति बाध्य हो

जाता है और उसे सदा सदा का संरक्षण स्वीकार कर अपनी सहमति प्रकट कर देता है—इस बात को हॉब्स ने 'लीवाइ-ए-थैन' के प्रकाशित हो जाने के थोड़े समय बाद हो लौटकर, इंग्लैंड में शान्ति से जीवन बिताना आरम्भ करके, प्रत्यक्ष करके दिखा दी थी। उसके राजनीतिकवाद का सर्वोपरि प्रयोजन यह सिद्ध करना था कि सुसंस्थापित प्रभुसत्ताधारी के विरुद्ध विद्रोह सदा सदोष तथा अनुपयुक्त होता है, और सयाने लोग, अपने हित में ही ऐसी स्थिति बना लेंगे कि विद्रोह सफल नहीं हो सके और इसलिए वे विद्रोह करने का यत्न भी नहीं करेंगे।

ओल्ड टेस्टामेंट (बाइबल की पुरानी धर्म संहिता) में एक विशाल मगरमच्छ का वर्णन है जो सब पशुओं का राजा है। अपनी अकड़ में, निम्न स्तर के कुछ पशु इस मगरमच्छ की उच्च स्थिति को छीन लेना चाहते हैं। परन्तु उसके शल्क इतने कठोर तथा इतने घने गुंथे हुए होते हैं कि उस पर हमला किया ही नहीं जा सकता और वह अजेय बना रहता है—“सभी घमण्डी बच्चों का राजा बना रहता है”। हॉब्स ने इस रूपक से यह सिद्ध करना चाहा था कि घमण्डी महत्वाकांक्षा अवास्तविक तथा विनाशक सिद्ध होती है और सयाने तथा व्यावहारिक लोग तो यह अनुभव करेंगे कि अपनी सुरक्षा के लिए ही उन्हें किसी उस लीवाइएथैन-सरीखे राज्य की अधीनता की आवश्यकता है कि जिसको पराजित करने की कोशिश करना ही मूर्खता सिद्ध हो।

हॉब्स ने गृहयुद्धों का इतिहास 'बीहीमॉथ' (Behemoth) नाम से लिखा—यह नाम उसने उस 'दीर्घकालीन पार्लियामेंट' (Long Parliament) का रखा था जिससे क्रोमवैल ने लाभ उठाया और अन्त में नष्ट कर दिया था। ('बीहीमाथ' एक दूसरा भयानक समुद्री दैत्य था परन्तु यह 'लीवाइ-थैन' जितना बलवान नहीं है।) हॉब्स की इस पुस्तक के अनुसार गृहयुद्ध का प्रत्यक्ष कारण यह था कि राजा ने अपनी पूर्ण प्रभुसत्ता बनाये रखने के स्थान पर विसर्जन-विरोधी विधेयक (Non dissolution Bill) को स्वीकृति देकर पार्लियामेंट (इंग्लैंड की संसद्) को अपना

प्रतिष्ठापित अधिकारी—मुकाबिले की हुकूमत—बनने दिया। देश के दो मालिक बन गए—जिसका अर्थ, हॉब्स के अनुसार कोई मालिक न रहना था : प्रभुसत्ता को बांटना उसको नष्ट करना ही है। प्रभुसत्ता के इस विनाश का कारण यह था कि युद्धप्रिय धर्म प्रचारकों ने यह दावा करके कि सच्चा ईसाई धर्म क्या है तथा एक ईसाई राज्य का स्वरूप कैसा होना चाहिये इस विषय में सुस्थापित पदाधिकारी की अपेक्षा वे अधिक जानते हैं—देश में अपनी उस कारगुजारी से, जिसको कि हम अब कोरी धार्मिक तथा राजनीतिक, सैद्धान्तिक कल्पना कहते हैं, देश में विप्लव की-सी स्थिति उत्पन्न कर दी थी। हॉब्स की विचारधारा यह थी कि इन लोगों ने सदसत् में विवेक करने की अपनी शक्तियों को, अपनी व्यक्तिगत अधिमान्यताओं को, अपने व्यक्तिगत सपनों को, बाइबल के वाक्यों के अपने लगाये निराले अर्थों को, अपने देश के निर्णीत कानून और स्थापित धर्म से अधिक महत्व दिया; और अपने इस कृत्य से उन्होंने अपने समेत सबके लिए भय पैदा कर दिया।

१६४० से आरम्भ हुए दशक में इंग्लैंड की राजनीतिक परिस्थिति का जो अध्ययन हॉब्स ने प्रस्तुत किया उसमें उसके राजनीतिकवाद की दृष्टि से तीन कमियां रह गईं।

पहली कमी यह थी कि अभी तक विवादास्पद शेष प्रत्येक मत की अपेक्षा उसका वाद बेहतर होना चाहिये था, क्योंकि यदि उसका वाद भी उस विवादास्पद मत से अधिक अच्छा नहीं होता तो इसका प्रकाशन उस सैद्धान्तिक गड़बड़ को बढ़ावा देने का कारण ही होता कि जिसने वह स्थिति उत्पन्न कर रखी थी कि जिसको हॉब्स अपने वाद से दूर करना चाहता था। यह तो अनुचित ही था कि जिस आग को वह अपने वाद से बुझाना चाहता था उसी आग को उसका वाद प्रोत्साहित करता।

दूसरी कमी यह थी कि उसको अपने वाद से सिद्ध तो यह करना था कि किसी भी राज्य में राजनीतिक अधिकार एक ही प्रभुसत्ताधारी के हाथ में रहने चाहिएं। हॉब्स ने यह तो चाहा कि यह प्रभुसत्ताधि-

जाता है। और उसे साम्राज्य की संरक्षण की नीति का प्रयोग प्रकट कर देता है—इस बात को हॉब्स ने 'लीवाइ-एथैन' के प्रकाशित हो जाने के थोड़े समय बाद हो लौटकर, इंग्लैंड में शान्ति से जीवन बिताना आरम्भ करके, प्रत्यक्ष करके दिखा दी थी। उसके राजनीतिकवाद का सर्वोपरि प्रयोजन यह सिद्ध करना था कि सुसंस्थापित प्रभुसत्ताधारी के विरुद्ध विद्रोह सदा सदोष तथा अनुपयुक्त होता है, और सयाने लोग, अपने हित में ही ऐसी स्थिति बना लेंगे कि विद्रोह सफल नहीं हो सके और इसलिए वे विद्रोह करने का यत्न भी नहीं करेंगे।

ओल्ड टेस्टामेंट (बाइबल की पुरानी धर्म संहिता) में एक विशाल मगरमच्छ का वर्णन है जो सब पशुओं का राजा है। अपनी अकड़ में, निम्न स्तर के कुछ पशु इस मगरमच्छ की उच्च स्थिति को छीन लेना चाहते हैं। परन्तु उसके शल्क इतने कठोर तथा इतने घने गुंथे हुए होते हैं कि उस पर हमला किया ही नहीं जा सकता और वह अजेय बना रहता है—“सभी घमण्डी बच्चों का राजा बना रहता है”। हॉब्स ने इस रूपक से यह सिद्ध करना चाहा था कि घमण्डी महत्त्वाकांक्षा अवास्तविक तथा विनाशक सिद्ध होती है और सयाने तथा व्यावहारिक लोग तो यह अनुभव करेंगे कि अपनी सुरक्षा के लिए ही उन्हें किसी उस लीवाइएथैन-सरीखे राज्य की अधीनता की आवश्यकता है कि जिसको पराजित करने की कोशिश करना ही मूर्खता सिद्ध हो।

हॉब्स ने गृहयुद्धों का इतिहास 'बीहीमॉथ' (Behemoth) नाम से लिखा—यह नाम उसने उस 'दीर्घकालीन पार्लियामेंट' (Long Parliament) का रखा था जिससे क्रोमवैल ने लाभ उठाया और अन्त में नष्ट कर दिया था। ('बीहीमाथ' एक दूसरा भयानक समुद्री दैत्य था परन्तु यह 'लीवाइ-थैन' जितना बलवान नहीं है।) हॉब्स की इस पुस्तक के अनुसार गृहयुद्ध का प्रत्यक्ष कारण यह था कि राजा ने अपनी पूर्ण प्रभुसत्ता बनाये रखने के स्थान पर विसर्जन-विरोधी विधेयक (Non dissolution Bill) को स्वीकृति देकर पार्लियामेंट (इंग्लैंड की संसद्) को अपना

प्रतिद्वंद्वी सत्ताधिकारी प्रभुसत्ता की हकूमत का उनके द्वारा देश के दो मालिक बन गए—जिसका अर्थ, हॉब्स के अनुसार कोई मालिक न रहना था : प्रभुसत्ता को बांटना उसको नष्ट करना ही है। प्रभुसत्ता के इस विनाश का कारण यह था कि युद्धप्रिय धर्म प्रचारकों ने यह दावा करके कि सच्चा ईसाई धर्म क्या है तथा एक ईसाई राज्य का स्वरूप कैसा होना चाहिये इस विषय में सुस्थापित पदाधिकारी की अपेक्षा वे अधिक जानते हैं—देश में अपनी उस कारगुजारी से, जिसको कि हम अब कोरी धार्मिक तथा राजनीतिक, सैद्धान्तिक कल्पना कहते हैं, देश में विप्लव की-सी स्थिति उत्पन्न कर दी थी। हॉब्स की विचारधारा यह थी कि इन लोगों ने सदसत् में विवेक करने की अपनी शक्तियों को, अपनी व्यक्तिगत अधिमान्यताओं को, अपने व्यक्तिगत सपनों को, बाइबल के वाक्यों के अपने लगाये निराले अर्थों को, अपने देश के निर्णीत कानून और स्थापित धर्म से अधिक महत्व दिया; और अपने इस कृत्य से उन्होंने अपने समेत सबके लिए भय पैदा कर दिया।

१६४० से आरम्भ हुए दशक में इंग्लैंड की राजनीतिक परिस्थिति का जो अध्ययन हॉब्स ने प्रस्तुत किया उसमें उसके राजनीतिकवाद की दृष्टि से तीन कमियां रह गईं।

पहली कमी यह थी कि अभी तक विवादास्पद शेष प्रत्येक मत की अपेक्षा उसका वाद बेहतर होना चाहिये था, क्योंकि यदि उसका वाद भी उस विवादास्पद मत से अधिक अच्छा नहीं होता तो इसका प्रकाशन उस सैद्धान्तिक गड़बड़ को बढ़ावा देने का कारण ही होता कि जिसने वह स्थिति उत्पन्न कर रखी थी कि जिसको हॉब्स अपने वाद से दूर करना चाहता था। यह तो अनुचित ही था कि जिस आग को वह अपने वाद से बुझाना चाहता था उसी आग को उसका वाद प्रोत्साहित करता।

दूसरी कमी यह थी कि उसको अपने वाद से सिद्ध तो यह करना था कि किसी भी राज्य में राजनीतिक अधिकार एक ही प्रभुसत्ताधारी के हाथ में रहने चाहिए। हॉब्स ने यह तो चाहा कि यह प्रभुसत्ताधि-

कारी सम्राट हो—परन्तु उसने इसको अपने वाद का आवश्यक अंग नहीं बनाया । उसके वाद का आवश्यक तत्व केवल यही रहा कि सर्व-सत्ताधिकारी संस्था, भले ही यह राजा हो, परिपक्व हो, अथवा सभा हो, परन्तु हो सुस्पष्ट प्रतिपादित तथा ज्ञात और इसका एक अकेला ही स्वर—सर्वसम्मत स्वर होना चाहिये ।

सम्भवतः इतना ही पर्याप्त होता, परन्तु अपने तर्क को मजबूत करने के लिए हॉब्स ने यह सिद्ध करना आवश्यक समझा—और यह उसके वाद की तीसरी कमी थी—कि किसी भी सर्वसत्ताधिकारी के बनाए कानून अन्यायपरक नहीं हो सकते क्योंकि न्याय तथा अन्याय, उचित तथा अनुचित, बुराई तथा भलाई का निर्णय तो वे कानून ही करते हैं । वह केवल इतना ही प्रतिपादित कर सन्तुष्ट नहीं हुआ कि नागरिक का कर्तव्य है कि वह सदा कानून का पालन करे—भले ही वह इसको कितना ही अनुचित क्यों न समझता हो । उसने तो यह भी सिद्ध करना चाहा कि (जब तक कानून के न पालन करने की अपेक्षा पालन करने से उस का जीवन अधिक संकट में न पड़ता हो—और यह अत्यन्त महत्वपूर्ण शर्त है) कानून के पालन के औचित्य में संशय प्रकट करने की बात तो है ही क्या—कानून के औचित्य तक में संशय प्रकट करना भी नागरिक के लिए एक भद्दी घृष्टता है ।

पहली कमी को पूरा करने के लिए, अपने राजनीतिक मत को उस समय के सैद्धांतिक घपले से अछूता रखने के लिए, अपनी तर्कशैली को ऐसी बनाने के लिए कि वह सभी प्रकार के व्यक्तियों को बाध्य कर दे और निर्विवाद प्रतीत हो, हॉब्स ने, किसी देशभक्तिमय अथवा नैतिक अथवा धार्मिक आदर्श को, जिसको सम्भवतः कुछ व्यक्ति न मानें सिद्धांत रूप में प्रस्तुत न करके, मनोवैज्ञानिक अथवा जैव प्रवृत्ति को सिद्धांत रूप में प्रस्तुत करना आरम्भ किया—उसको यह विश्वास था कि इसको तो सभी मनुष्य, उसका सैद्धांतिक दृष्टिकोण भले ही कुछ भी क्यों न हो, मानेंगे । उसने इस विचारविन्दु से आरम्भ किया कि सभी मनुष्य उग्र

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
 मृत्यु से डरते हैं और उग्र मृत्यु के प्रति घृणा किसी भी घृणा अथवा अभिलाषा से अधिक बलवती प्रेरक रहती है। यदि कहीं एकमात्र विकल्प मृत्यु हो तो वहां मनुष्य किसी भी दूसरी वस्तु को सहन कर लेगा। हॉब्स चार्ल्स प्रथम के चिकित्सक, रक्त-संचार के आविष्कर्ता, विलियम हार्वे का मित्र और प्रशंसक था। हार्वे शरीर में हृदय को एक ऐसा नियंत्रक अंग समझता था जो मनुष्य की अभिलाषाओं तथा उसकी घृणाओं का सबका नियंत्रण करता है। इसीलिए मनुष्य को ऐसी प्रत्येक वस्तु से अत्यन्त घृणा है जो उसके हृदय की धड़कन को रोक देने का संकट उपस्थित कर सकती हो।

इस प्रमुख पक्ष को प्रस्तुत करने के बाद और कई और छोटी-मोटी स्थापनाओं को उपस्थित करके कि जिन्हें उसने उतनी ही स्वतःस्पष्ट और निर्विवाद समझा, हॉब्स ने निगमन-पद्धति से अनुमान लगाना शुरू किया। उसने कहा—मेरा उद्देश्य लोगों को केवल वही कुछ सिखाना है जो उन को पहले ही ज्ञात है। वह उन पर न तो अपने किसी राजनीतिक आदर्श का प्रभाव डालना चाहता है और न (माक्यावेली, बेकन, तथा हैरिंगटन की भांति) अतीत अनुभव से शिक्षा लेकर उन्हें कुछ पढ़ाना ही चाहता है। वह तो उनसे केवल यही कहता है कि वे इस बात पर ध्यान दें कि वे किस प्रकार के प्राणी हैं और वह उन्हें इस बात का हिसाब लगाने के लिए कहता है कि यदि उनका ऐसा कोई सर्वनिष्ठ सत्ताधारी न हो कि जिससे उन्हें भय हो तो उनके जीवन की क्या अवस्था होगी। यदि वे ऐसा करेंगे तो उन्हें स्वयं यह अनुभव हो जाएगा कि उन्हें अपने अधिष्ठाता के रूप में अपना एक सर्वसत्ताधारी बनाना है और उसको बनाए रखना है। सेक्सटस एम्पायरिकस ने यह बताया था कि प्राचीन ईरान में जब कोई राजा मर जाता था तो पांच दिन तक प्रजा को राजा अथवा कानून से रहित रखने की प्रथा प्रचलित थी। इस प्रथा की तह में यह विचारधारा काम करती थी कि जब लूटपाट, बलात्कार तथा हत्या होना बन्द हो जाएगी तो बच रहे लोग अपने नये राजा के अडिग

भक्त बन जायेंगे क्योंकि उन्हें अनुभव से यह पता चल जाएगा कि किसी राजनीतिक सत्ताधारी के बिना कितनी भयानक दशा हो जाती है। हॉब्स ने नैसर्गिक दशा में मनुष्यों की स्थिति का स्पष्ट चित्र (अपनी मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं के आधार पर) अंकित करके उसी परिणाम पर पहुंचने का यत्न किया। हम में से अधिकतर के लिए तो मानव संगति से वंचित कर देने के दण्ड से बढ़कर कोई दण्ड नहीं हो सकता। हॉब्स के अनुसार, मनुष्य की नैसर्गिक दशा इतनी भयानक सिद्ध होगी कि वस्तुतः तो प्रत्येक मनुष्य सर्वथा अकेला ही रहना चाहेगा। परन्तु यह असम्भव है। इसका एकमात्र विकल्प उसके लिए यही है कि वह एक सर्वोपरि पंच के सम्मुख नतमस्तक रहने के लिए औरों के साथ समझौता कर ले। हॉब्स ने यहां यह बात सर्वथा स्पष्ट कर दी थी कि वह कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं प्रस्तुत कर रहा है। वह तो एक अर्धऐतिहासिक रीति से राजनीतिक प्रभुसत्ता की हेतुवाद समन्वित उपपत्ति (Rationale) की ही पुनः रचना कर रहा है।

इस प्रकार सत्ताधारी की आवश्यकता तो सिद्ध हो गई परन्तु अभी तक यह सिद्ध करना शेष रह गया कि मनुष्यों की आवश्यकता एक अकेले असीमित, सर्वसत्ताधारी पदाधिकारी की आवश्यकता है। (जैसा कि लॉक ने पीछे से प्रस्तुत किया था) क्या किसी ऐसे सीमित सत्ताधारी से काम नहीं चल सकता कि जिसका कार्य क्षेत्र सार्वजनिक जीवन के कतिपय पहलुओं तक ही सीमित रहे? अथवा (जैसा कि ऐक्वाइनस तथा हूकर पहले प्रस्तुत कर चुके थे) क्या अनेक ऐसे सत्ताधारी नहीं हो सकते कि जिनमें से प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र तक सीमित रहे—राज्य संस्था सांसारिक विषयों तक सीमित रहे, धर्मसंस्था का क्षेत्र आध्यात्मिक विषयों तक सीमित रहे और सम्भवतः कुछ कम दर्जे के निगम तथा नगर पालिकाएं अपने-अपने उचित कार्य क्षेत्र तक सीमित रहें? इन प्रश्नों का हॉब्स ने यह उत्तर दिया कि 'सीमित प्रभुसत्ता' और 'विभक्त प्रभुसत्ता' शब्द तो परस्पर विरोधी विचारधारा को प्रकट करते हैं। किसी राज-

नीतिक संस्था के अधिकार को दूसरी संस्था का अधिकार ही सीमित
 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and Bangalore
 अथवा नियन्त्रित कर सकता है। इस अवस्था में तीन सम्भावनाएं उप-
 स्थित हो जाती हैं :—

(१) जो प्रभुत्व अथवा सत्ताधारी किसी दूसरे प्रभुत्व अथवा सत्ता-
 धारी से सीमित न हो, वह सार्वभौम प्रभुत्व अथवा सर्वसत्ताधारी है।

(२) कोई सत्ताधारी किसी दूसरे किसी श्रेष्ठ सत्ताधारी के नियं-
 त्रण में हो—जैसे कि इंग्लैंड की पार्लियामेंट [अविसर्जन कानून (Non-
 dissolution Act) से पहले] राजा के नियन्त्रण में थी—वह अपनी
 इच्छानुसार इसको आमन्त्रित अथवा विसर्जित कर सकता था और इसकी
 सम्मति को मानना अथवा न मानना उसकी इच्छा पर निर्भर था।

(३) एक भावी सत्ताधारी की जांच पड़ताल दूसरा भावी सत्ताधारी
 कर, दोनों में से कोई दूसरे के नियन्त्रण में नहीं हो (जैसा की अविसर्जन
 कानून के बाद इंग्लैंड के राजा तथा वहां की संसद् का आपसी सम्बन्ध
 रहा) इस अवस्था में कोई सत्ताधारी सर्वप्रधान सत्ताधारी नहीं होता
 और देश वास्तविक अथवा प्रारम्भिक गृहयुद्ध की स्थिति में होता है।
 यदि भावी सत्ताधारी परस्पर विरोधी आदेश जारी करें तो उन्हें रोकने
 वाला कोई नहीं होता; इस अवस्था में केवल 'बल' ही इस बात का
 निर्णायक रहता है कि कौन से आदेश का पालन करना है।

हॉब्स की सम्मति में विभक्त अथवा सीमित प्रभुत्ता का उपदेश
 देना ऐसा ही हास्यास्पद है जैसे कि यह सिखाना कि संसार में अघूरी
 भरी रिक्तता भी कोई वस्तु है। उसके विचार में प्रभुसत्ता तो केवल-
 मात्र अविभक्त और असीमित ही हो सकती है। इंग्लैंड में गृहयुद्ध इसी
 कारण आरम्भ हुआ था कि उस समय वहां कोई सर्वप्रधान सत्ताधारी
 नहीं रहा था—केवल राजा तथा पार्लियामेंट की परस्पर विरोधी आवाजें
 ही थीं। उसका कहना है कि मनुष्यों को यह अनुभव कर लेना चाहिए
 कि किसी सर्वप्रधानसत्ताधारी के बिना आदिम, नैसर्गिक अवस्था में
 अथवा (वास्तविक अथवा अव्यक्त, सम्भाव्य) युद्ध की स्थिति में जीवन

Digitized by eGangotri Foundation
 यापन करने की स्थिति के और एक परम सर्वप्रधान सत्ताधारी के अधीन शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने की स्थिति के ठीक मध्य की कोई स्थिति है ही नहीं।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि मनुष्यों को जिन जैव कारणों से भोजन तथा पेय की आवश्यकता पड़ती है—उन्हीं जैव कारणों से उनको एक परम सर्वप्रधान सत्ताधारी की भी आवश्यकता है। यदि ऐसा सर्वप्रधान सत्ताधारी नहीं मिला तो लगभग यह निश्चित ही है कि उन्हें मरना होगा। क्योंकि किसी मनुष्य-विशेष की उसकी नैसर्गिक दशा में कल मृत्यु होने की सम्भावना तो शायद बहुत अधिक न हो परन्तु यह सम्भावना कि यदि नैसर्गिक दशा बनी रही तो वह अन्त में मर जाएगा, निश्चितता के निकट की बात है।

अभी यह सिद्ध करना शेष है कि सर्वप्रधान सत्ताधारी के आदेशों को उसके प्रजाजन स्वतः ही उचित और न्यायपरक समझें—हाँज ने विवाद के इस विषय को न्याय्य कैसे ठहराया (मैं तो इसको अन्याय ही समझता हूँ) कि सर्वप्रधान सत्ताधारी जिसको उचित अथवा अनुचित, सत् अथवा असत् घोषित कर दे वही उचित अथवा अनुचित और सत् अथवा असत् है।

पहली बात यह है कि हाँज का मत यह रहा कि गृहयुद्ध का आधार-भूत मुख्य कारण लोगों की, उसके शब्दों में, वह ढीठ प्रवृत्ति होती है, जिससे वे अपनी निजी विवेक बुद्धि को अपने सर्वप्रधान-सत्ताधारी की, सर्वजन हितकारी [public] विवेक बुद्धि, पर हावी होने देते हैं। दूसरे शब्दों में लोगों के निजी नैतिक निर्णय तो—कम से कम उन क्षेत्रों में तो अवश्य ही, कि जिनमें सर्वप्रधान सत्ताधारी सम्राट् ने वैधानिक अधिनियमों के रूप में सर्वजन हितकारी नैतिक निर्णय किये हैं—एक प्रकार के ऐसे फालतू साधन ही हैं कि जिन के लिए मनुष्य सामान्यतया गुंजाइश नहीं निकाल सकते। अर्थात् जिनकी सुविधा उनको नहीं मिल सकती। दूसरी बात यह है कि, कुछ भी से, निजी नैतिक निर्णय (नैतिक शब्दों

के सम्बन्ध में हॉब्ज के मनोभावात्मक सिद्धांत के अनुसार निजी बुभुक्षाओं की आडम्बरपूर्ण दिखावटी अभिव्यक्ति से अधिक कुछ नहीं है। यदि मनुष्य सुरक्षा के लिए अपनी निजी बुभुक्षाओं को दबा सकता है तो फिर उसको अपने नैतिकता-सम्बन्धी उभारों को भी उन्हीं की तरह अवश्य दबाना होगा। तीसरी बात यह है कि हॉब्ज के श्रोता व पाठक ईसाई थे और बाइबल के अनुसार, जैसा कि हॉब्ज ने अपने पाठकों को बार-बार ध्यान दिलाया है, प्रारम्भिक पाप तब किया गया था जब कि आदम तथा हव्वा ने देवताओं की भांति पुण्य तथा पाप के ज्ञाता बनने की इच्छा से पाप तथा पुण्य के ज्ञान-वृक्ष से फल तोड़कर खाये थे। यह धार्मिक विचारधारा हॉब्ज के अनुकूल रही। हम लोग मानव हैं, देवता नहीं हैं, और हमें यह अधिकार नहीं है कि हम में से प्रत्येक पाप तथा पुण्य का अपना-अपना निजी मानक निश्चित कर ले। परमात्मा की आज्ञाएं बाइबल में आ गई हैं। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि बाइबल के जितने पाठक हैं, उसके उतने ही निजी अर्थ किए जा सकते हैं; इसके 'सच्चे' अर्थ को लेकर गृहयुद्ध हो जाता है। निजी नैतिक निर्णयों के अतिरिक्त सुख-विलास के लिए लोगों के पास जितनी गुंजाइश है उससे अधिक गुंजाइश बाइबल के निजी अर्थों के सुखविलास के लिए भी नहीं है। बाइबल के मूलभूत अर्थ की स्थापना के लिए उन्हें अपने लिए हॉब्ज के शब्दों में, एक 'भरणधर्मा परमात्मा' को स्थापित करना है और साथ ही प्रारम्भिक नैतिक सिद्धान्तों का निश्चित करना है।

इस सारे निरूपण का आधार हॉब्ज का सामान्य सत्तावादी सिद्धांत (यह सिद्धान्त कि सामान्य शब्द ध्वनिमात्र हैं इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है) था; इसके अनुसार नैतिक पारिभाषिक शब्दों समेत सब सार्वदेशिक शब्दों के केवल उतने ही वास्तविक अर्थ होते हैं, जितने कि व्यक्तिवाचक संज्ञा के शब्दों के होते हैं—इनके ये अर्थ किन्हीं वस्तुओं के साथ, प्रारम्भिक रीति से, संलग्न कर दिए जाने पर ही होते हैं। हॉब्ज की दृष्टि में, एक सार्वदेशिक अथवा जातिवाचक संज्ञा शब्द ('जैसे मनुष्य')

और व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्द (जैसे धातु प्रथम) में केवल इतना ही अंतर है कि जातिवाचक संज्ञा शब्द तो कई वस्तुओं का एक सामान्य नाम होता है और व्यक्तिवाचक केवल एक का नाम होता है। संसार में “नामों के अतिरिक्त और कुछ भी सार्वदेशिक नहीं है; क्योंकि जिन वस्तुओं के जो नाम रखे गए हैं, उनमें से प्रत्येक वैयक्तिक तथा एक वचनात्मक है।”

इसलिए किसी वस्तु का नाम धरना एक मनमानी परम्परा है। प्रारम्भिक नैसर्गिक अवस्था में ‘पाप’—‘पुण्य’ सरीखे नैतिक उपनाम यों ही धर दिए जाते हैं परन्तु न तो ‘केवलमात्र तथा निरपेक्ष’ पुण्य अथवा पाप ही कुछ है और न “पुण्य तथा पाप का कोई ऐसा सर्वनिष्ठ नियम ही है कि जिसको स्वयं पदार्थों के स्वरूप से ही समझा जा सके।” मनुष्य अपनी प्रारम्भिक नैसर्गिक दशा में नाटे और बौने प्राणियों की एक भीड़ होती है कि जिसका प्रत्येक मनुष्य यह यत्न करके गुरु बनना चाहता है कि जैसा वह चाहे प्रत्येक शब्द का वही अर्थ हो। न्याय का कोई एक-सा जनकल्याणकारी सर्वजनहितकारी मानक स्थापित हो जाए इसके लिए यह आवश्यक है कि क्या ‘न्यायपरक’ है और क्या ‘अन्याय-परक’ है—इसका कोई एक प्रामाणिक भाष्यकर्ता हो—एक ऐसा नाटा-बौना हो जो गुरु हो और जो इस कार्य में सफल हो जाय कि जैसा वह चाहे शब्दों का वही अर्थ हो जाए। कोई भी कृत्य, स्वरूप से ‘न्याय अथवा अन्याय परक नहीं होता। सर्वसत्ताधारी उसको न्याय अथवा ‘अन्याय-परक’ बनाता है।

यहां तक तो हाँबज एक अनियन्त्रित एकदल-पद्धति का भाष्यकर्ता सा लगता है। राज्य संस्था एक सर्वशक्तिमती संस्था है और वह नैतिक आलोचना से अतीत है। परन्तु इस चित्र की तीन महत्वपूर्ण शक्तें हैं।

पहली यह कि सर्वसत्ताधारी स्वयं एक मनुष्य है और वह मृत्यु से डरता है—वह एक मनुष्य का बनाया ‘परमेश्वर’ तो है परन्तु एक ‘भरणशील’ व्यक्ति है जिसको, यदि वह मूर्खता से शासन करे तो वस्तुतः हटाया जा सकता है। और हाँबज यहां बताता है कि यदि वह अपने

आपको सुरक्षित करना चाहे तो उसके लिए सर्वोत्तम उपाय यही है कि वह अपनी प्रजाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करे और उनको अपना विरोधी न बनावे अथवा उनको क्रुद्ध न करे। क्योंकि—और यह दूसरी शर्त है—मनुष्य अपने व्यक्तिगत संरक्षण के लिए सर्वसत्ताधारी की स्थापना करते हैं परन्तु वे अपने प्राणों की रक्षा करने के अपने नैसर्गिक अधिकार को तो कभी नहीं छोड़ते। यदि सर्वसत्ताधारी उनको मारने की धमकी देने लगेगा तो स्वाभाविक ही है कि वे उसका प्रतिरोध करें।

तीसरी शर्त यह है कि एक काम ऐसा है कि सर्वसत्ताधारी यदि उसको करना चाहे तो भी नहीं कर सकेगा। वह अपनी प्रजाओं के मन के भीतर के उनके निजी विचारों को नहीं जान सकता। उसको यही करना पड़ेगा कि उनकी बाह्य गतिविधि तथा कार्य पर नजर रखे—इसलिए नहीं कि प्रजाओं की निजी (भीतरी) विचारधाराओं पर नियन्त्रण रखना गलत कार्य होगा, परन्तु इस कारण कि वह उन पर नियन्त्रण रख नहीं सकता “मानवी शासक मनुष्यों की आन्तरिक विचारधारा पर नियन्त्रण नहीं रख सकते” (‘क्योंकि हृदय को तो केवल परमात्मा ही जानता’) है। इस प्रकार हॉब्स ने एक दलीय शासन की संलक्षक समझी जाने वाली एक वस्तु का—राजकीय जांच-पड़तालें तथा बलात् कराई आत्मस्वीकृतियों का तो, स्पष्ट ही निराकरण कर दिया। यदि किसी सर्वसत्ताधारी की प्रजाएं बाहर से कानून तथा चर्च के अनुसार का समर्थन करें तो वे अपनी इच्छानुसार विचार बना सकती हैं और अपने मनमाने ढंग से परमात्मा की भक्ति कर सकती हैं। सम्भवतः हमें इतना निरूपण पर्याप्त न लगे। परन्तु यदि हॉब्स सीमातीतरूप से निरंकुशतन्त्रवादी था तो वह ऐसा कम से कम सामान्यजनों की ओर से था। उसका सिद्धान्त उसके शब्दों में “प्रिय पाठकों ! आपके लिए ही” इस आशा से बनाया गया है कि “इसके बाद फिर कभी महत्वाकांक्षी मनुष्यों को आपके अपने रक्त की धाराओं के माध्यम से उनकी अपनी निजी अधिकार-लिप्सा के मार्ग को प्रशस्त न करने दे।”

लॉक (रिचर्ड पीटर्स)

‘दर्शन’ अथवा ‘तत्त्वज्ञान’ का आजकल जनसाधारण के लिए एक अर्थ है तो व्यवसायी व्यवहार-दर्शियों के लिए दूसरा है। जनसाधारण को दर्शनशास्त्र जीवन के लक्ष्य पर किए गए एक प्रकार के विचार-विमर्श से, अथवा जीवनोद्देश्य की समस्याओं की की गई सूक्ष्म छानबीन से, प्राप्त जीवन-यापन के लिए लाभदायक निर्देशों का सुभाव देता है; व्यवसायी दार्शनिक की दृष्टि में दर्शनशास्त्र अवबोध तथा ज्ञान-कारणों के विश्लेषण तथा उनकी सीमा रेखा के निर्धारण से सम्बद्ध समस्याओं की गूढ़, शास्त्रीय तथा अशिथिल छानबीन है। जीवन-यापन की व्यावहारिक बातों पर इन समस्याओं के समाधान का क्या प्रभाव पड़ सकता है—यह खोज स्वयं एक दार्शनिक समस्या बन जाती है।

जन-साधारण के ‘जीवन-दर्शन’ तथा दार्शनिक के शास्त्रीय अनुसन्धानों में विद्यमान यह अन्तर राजनीतिक दर्शनशास्त्र में इतना स्पष्ट न है और न कभी रहा है; क्योंकि लोग राजनीतिक हलचल के विषय में आधारभूत प्रश्नों को उठाने के लिए प्रायः इस कारण प्रेरित हो जाते हैं कि वे व्यावहारिक तथ्यों से परेशान हो जाते हैं। निस्सन्देह तभी तो बर्क ने पश्चात्ताप करते हुए कहा था कि “किसी राज्यशासन का संचालन ठीक से नहीं हो रहा है, इस बात का एक सुनिश्चित संकेत यह होता है कि लोग प्रकल्पनाएं गढ़ने लगते हैं...। जिस स्थिति में लोगों को बाध्य होकर लोक-हितकारी राज्य की स्थापना के मूलभूत कारणों की खोज में लग जाना पड़ता है, वह स्थिति सदैव शोचनीय होती है।” बर्क ने राज्य में हुए विप्लवों द्वारा उत्पन्न परेशानियों और बौद्धिक अशान्ति के राजनीतिक दर्शन के व्यावहारिक मूल कारण का जो निदान प्रस्तुत किया है उसको स्वीकार करते हुए भी प्रकल्पनाएं करने के कृत्य से उसको जो भय लगता है—उस भय में भागीदार बनने की आवश्यकता नहीं है।

जब दर्शनशास्त्ररूपी मशीन के पुर्जे ऐसे व्यावहारिक कार्यों के अनु-
 कूल ठीक बैठाने होते हैं तब सही अर्थों में दार्शनिक विषयों की खोज
 वहीं तक की जाती है जहां तक कि उनका व्यवहारिक तथ्यों से सम्बन्ध
 होता है। उदाहरण के लिए प्लेटो की पुस्तक 'रिपब्लिक' को लीजिए।
 इस पुस्तक में 'न्याय' की धारणा का वास्तविक विश्लेषण उस द्वारा की
 गई कुलीनतन्त्र की चकालत से गौण रह गया है और उसकी 'रूपों' की
 प्रकल्पना का केवल उतना ही अंश दिया गया है जितना कि शासकवर्ग की
 योग्यताओं तथा उनकी शिक्षा के विषय में अपने मत का प्रतिपादन करने
 के लिए उसने आवश्यक समझा। दर्शनशास्त्र को व्यावहारिक तथ्यों के
 अनुकूल बनाने के लिए उसकी काट-छांट करने के परम उत्कृष्ट उदाहरण
 जॉन लॉक के राजनीतिक लेख हैं। कई विचारकों ने यह युक्ति दी है,
 और शायद इस युक्ति का, कुछ भी प्रभाव तो नहीं पड़ा है, कि उसकी रचना
 "टू ट्रीटाइजेज ऑव गवर्नमेंट" (शासन के सम्बन्ध में दो लेख) की
 दार्शनिक आधार भूमि का वस्तुतः उस ज्ञानवाद से तो वस्तुतः कोई मेल
 नहीं बैठता जिसका प्रतिपादन उसने अपने ग्रन्थ 'ऐस्से कन्सर्निंग ह्यूमन
 अण्डर स्टैंडिंग' ('मानव बोध से सम्बन्धित निबन्ध') में किया है।

एक बात और भी है। लॉक ने 'ट्रीटाइजेज ऑव गवर्नमेंट' का
 कृतित्व उसके प्रकाशित होने के बहुत दिनों तक स्वीकार नहीं किया था।
 इसलिए दार्शनिक आधार भूमि को नपानुला रखने का यह एक और
 कारण था कि कहीं 'ट्रीटाइजेज ऑव गवर्नमेंट' का गुमनाम लेखक और
 "ऐस्से कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डर स्टैंडिंग" का घोषित लेखक—दोनों—
 अत्यन्त स्पष्ट रूप से एक ही सिद्ध न हो जायें। और इसी कारण लॉक
 की पुस्तक 'ट्रीटाइजेज ऑव गवर्नमेंट' का पश्चिमी यूरोप तथा अमरीका
 की राजनीतिक चेतना पर तो प्रबल तथा स्थायी प्रभाव अवश्य पड़ा
 परन्तु उसमें स्पष्टता, संगतता अथवा मौलिकता जैसे दार्शनिक सद्गुण
 नहीं थे। इसके विपरीत वह स्टुअर्ट वंशीयों की निरंकुश प्रवृत्तियों के
 विरोध में बलपूर्वक उपस्थापित राजनीतिक मांगों के चारों ओर बुना गया,

विविध स्थायी स्रोतों से एकत्रित वस्त्रों का एक ढीला-ढाला चोगा—
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
 मार्ग पर डाला गया पर्दा—अवश्य प्रसिद्ध हुआ। उसके निबन्ध ('ट्रीटा-
 इजेज') इस कारण प्रसिद्ध हो गए थे कि उनमें उन लोगों की भावनाएँ
 अमूर्त रूप से अभिव्यक्त की गई थीं—जिन्होंने कि निरपेक्षतावाद—
 निरंकुश शासन पर नियन्त्रण की मांग की थी। वे अपने गम्भीर दार्शन-
 निक विवेचन अथवा अर्थबोध के कारण प्रसिद्ध नहीं हुए थे।

लॉक की "टू ट्रीटाइजेज ऑव गवर्नमेण्ट" नाम की दो पुस्तकें पर-
 स्तर प्रतीकूल पुस्तकें हैं। सर राबर्ट फिल्मर ने अपनी पुस्तक 'पैट्रिआर्क'
 (पितृतन्त्रवाद) में यह सिद्ध करने का यत्न किया था कि स्टुअर्ट वंशी
 शासन करने के दैवी-अधिकार का जो दावा करते हैं उनको वह अधिकार
 'आदम' से मिला था—लॉक के पहले निबन्ध में इस तथ्य पर एक लंबा
 तथा विद्वत्पूर्ण आक्षेप किया गया है; दूसरे निबन्ध में, जिसमें उसके
 राजनीतिक तत्वज्ञान का अधिकांश भाग आ गया है, सहमति से शासन
 की अधिक स्पष्ट-अमूर्त वकालत की गई। अभी पिछले दिनों तक तो
 यही समझा जाता था कि उसका पहला निबन्ध फिल्मर की पुस्तक के
 पुनः प्रकाशन के उत्तर में, लगभग १६८० में लिखा गया था और दूसरा
 निबन्ध १६८८ की उस क्रांति के समर्थन में घसीटा गया था जिसमें जेम्स
 द्वितीय को देश निकाला दिया गया था और विलियम तथा मेरी को
 राज सिंहासन पर बिठा दिया गया था। ऐसे सोचने का मुख्य आधार
 भूमिका में दिया गया लॉक का वह वक्तव्य है जिसमें उसने यह आशा
 प्रकट की है कि 'हमारे महान् पुनः-शांतिस्थापक, हमारे वर्तमान राजा
 विलियम का सिंहासन सुस्थिर हो और जनता की सहमति से उसका
 राजा होना सफल सिद्ध हो।'

अब यह बात अधिक सम्भव प्रतीत होती है कि दूसरा निबन्ध
 बहुत पहले—शायद पहले निबन्ध से भी पहले—लिखा गया हो और
 उसको शीघ्रता में ऐसा बना दिया गया हो कि उससे १६८८ की क्रांति
 की युक्तियुक्त वकालत हो सके। लॉक 'अर्ल ऑव शैफ्टेसबरी' और साथ

ही उसके चिकित्सक का गहरा मित्र था और उसका स्टुडेंट वीशियों के विरोधियों से तथा अन्त में उनको अपदस्थ करने वालों से गहरा सम्पर्क था। इन राज-विरोधी निबन्धों से अपना साहचर्य जतलाने के सम्बन्ध में लॉक को जो चिन्ता थी, वह, जल्लाद के हाथों मरे एल्जरनोन सिडनी-सरीखे अपेक्षतया अधिक मुंहफट बौद्धिकों के भाग्य को दृष्टि में रखते हुए, समझ में आ सकती है; और इस सम्भावना से समझ में आ सकती है कि शायद क्रांति के बाद जेम्स फिर लौट आवे। क्योंकि लॉक एक बहुत ही सतर्क और अनावश्यक रूप से मौन रहने वाला व्यक्ति था—उसने सार्वजनिक आलोचना तथा सम्भावित शहादत का मुकाबिला न करके पृष्ठभूमि में रहकर सलाह देना ही अधिक उचित समझा। इस पर भी १६८३ में ऑक्सफोर्ड के बोडलियन में पुस्तकों की होली होने के बाद वह हालैण्ड भाग गया; और उसकी अनुपस्थिति में ही उसको काइस्ट चर्च के—उसके—पद से निकाल दिया गया।

परन्तु जो व्यक्ति यह जानना चाहता है कि व्यक्ति तथा प्रशासन-संस्था की प्रभुता के पारस्परिक संबंधों के विषय में उसकी दलीलें कितनी अकाट्य हैं तथा इस सम्बन्ध में उसकी सामान्य मान्यता कितनी युक्ति-युक्त है, उसके लिए तो, कुछ भी हो, लॉक की रचना का १६८८ की क्रांति से ठीक-ठीक सम्बन्ध निरूपण करना अपेक्षया महत्वहीन ही है। क्योंकि उसकी पुस्तक 'टू ट्रीटाइजेज' का आधारभूत प्रमुख विचारणीय विषय तो व्यक्ति तथा शासक का संबंध ही था। हॉब्स की पुस्तक 'लीवाइएथैन' और लॉक की पुस्तक 'सैकेण्ड ट्रीटाइज ऑव सिविल गवर्नमेंट' उस नये राष्ट्रीय राज्य में प्रशासन के केन्द्रीयकरण की विचार-धारा से सहमत होने के विविध प्रयत्नों का प्रतिनिधित्व करती थीं, जो राष्ट्रीय राज्य ट्यूडरवंशियों के शासनकाल से ही, इसके साथ व्यक्ति के सम्बन्ध का मन-ही-मन अन्तर्दर्शन करने की प्रक्रिया से उभरता आ रहा था। यद्यपि हॉब्स तथा लॉक के निष्कर्ष आमूलचूल भिन्न निष्कर्ष रहे, परन्तु उनके सिद्धान्त-स्थापन की प्रक्रिया का आधार उभयनिष्ठ था—

पहली बात तो यह है कि विचार-विमर्श अथवा तर्क के जिस प्रकार को 'औचित्य-समर्थन' गिना जाना है—उसके विषय में दोनों एकमत थे । हॉब्स ने स्पष्ट ही विचार-विमर्श के उन सभी प्रकारों पर आक्षेप किया जो प्रथा अथवा इतिहास के कारण भले लगते हैं । उसने यह युक्ति दी कि राजनीति विज्ञान भी ज्यामिति की भांति युक्तिसंगत प्रदर्शन के लिए सामग्री प्रदान करता है—इसमें पूर्व दृष्टांत की अपेक्षा सिद्धान्त के प्रति आकर्षण ही एकमात्र उचित आकर्षण है । इसी प्रकार लॉक भी प्रजा की स्वतन्त्रता तथा देश विधि (Common-law)-अनुसारी अधिकारों की वकालत, अपने पूर्ववर्ती सर एडवर्ड कोक की भांति, राजा के परमाधिकारों के निरूपक अनगिनत पूर्व उदाहरणों की ओर ध्यान दिलाकर कर सकता था । परन्तु उसने यह काम बिल्कुल भी नहीं किया । हॉब्स के तर्क-वितर्क में जो प्रतिभा तथा दार्शनिक कुशलता थी वह लॉक की दुर्बोध युक्तियों में कहाँ थी, परन्तु फिर भी उन युक्तियों का संदर्भ-क्षेत्र एक ही था । इन दोनों ही विचारकों ने तार्किक, मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक प्रमाण उपस्थित करने के लिए निसर्ग दशा तथा निसर्ग दशा से ऊपर उठने का संकेत देने वाली सामाजिक संविदा को आदर्श-उदाहरण के रूप में अपने सामने रखा । ऐतिहासिक अटकलवाजी के रूप में इसका प्रयोग केवल अधूरी गम्भीरता से ही किया ।

दोनों विचारकों में दूसरी समानता यह है कि दोनों ने ही राजनीतिक दायित्व की समस्या का समाधान ऐसे व्यक्तियों के दृष्टिकोण से करने का यत्न किया है जिनके हित कल्पनानुसार एक-से हैं । ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि में राज्य तो मनुष्य की रचना है—वह ऐसी कोई शारीरिक रचना नहीं है कि जिसका प्राकृतिक रूप में विकास हो गया हो । यद्यपि हॉब्स ने तो इसकी उपमा एक कृत्रिम मैशीन से दी और लॉक ने उसे एक सीमित दायित्व वाली कम्पनी बताया परन्तु दोनों ही उसको मानव-रचित तथा परिवर्तनीय संस्था मानते थे । उनके सम्मुख समस्या यह थी

कि एक ऐसा संस्था की स्थापना उचित करने का प्रयत्न किया जाये जिसको व्यवस्था पूर्वक जान-बूझकर स्थापित नहीं किया गया था ।

तीसरी समानता यह है कि दोनों ने ही प्रशासन-संस्था के प्रभुत्व के विषय में जो संदेह प्रकट किया वह मुख्यतया ठीक था । राजनीतिक प्रभुत्व अस्वाभाविक है तथा एक प्रकार के मृदु अपमान का प्रतीक है— इस बात को दोनों ही भली-भाँति अनुभव करते थे । मनुष्य विवेकशील प्राणी है, इस तथ्य को दोनों ही मानते थे—इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि प्रभुत्व की स्थापना के समुचित कारण होने चाहिए । प्रभुत्व को किसी ऐसी प्राकृतिक व्यवस्था का एक अंश नहीं मान लेना चाहिए कि जिस व्यवस्था के अनुसार कुछ मनुष्य तो जन्म से ही शासक माने जाते हैं और कुछ जन्म से शासनीय होते हैं ।

इसके अतिरिक्त उन दोनों ने ही यह अनुभव किया कि राजनीतिक प्रभुता को न्यायोचित ठहराने के लिए यह आवश्यक है कि उन व्यक्तियों की सम्भावित क्षतियों का अनुमान कर लिया जाय कि जो किसी राजनीतिक प्रभुत्व के अधीन नहीं हैं । हॉब्ज उस समय जीवित था जबकि गृहयुद्ध की अनिश्चित स्थिति विद्यमान थी तथा गृहयुद्ध का आतङ्क छाया हुआ था; उसको पूर्ण विश्वास हो गया था कि सुरक्षा का अभाव ही सबसे बड़ी क्षति है । नैसर्गिक दशा युद्ध की वह स्थिति है जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपने पड़ोसी की दया पर निर्भर रहता है और मनुष्य का जीवन “अकेला, घटिया, कलुषित, पशुवत, क्रूर और अल्पकालीन” होता है । दूसरी ओर लॉक ने सब क्षतियों में सबसे अधिक बुरी क्षति, स्वतन्त्रता की क्षति को, ‘दूसरे मनुष्य की परिवर्तनशील, अनिश्चित, अज्ञात, मन-मानी अभिलाषा के वशीभूत’ हो जाने को समझा । राजनीतिक प्रभुता की सहायता के समाधान का जो उसने मुख्य उपाय बताया वह तभी समझ में आ सकता है जबकि हम यह समझ लें कि स्वतन्त्रता की अभिरक्षा करना ही उसका सुदृढ़ निश्चय है ।

लॉक ने ‘स्वतन्त्रता’ पर विचार करते समय उसको ‘असीमित स्वार्थ-

सिद्धि का साधन नहीं सामाजिक व्यवस्था के लिए (को निर्धारण करने) में समर्थ सृष्ट प्राणियों की सभी राज्य संस्थाओं में—जहां कहीं कोई कानून नहीं बना होगा वहां 'स्वतन्त्रता' भी बिल्कुल नहीं होगी; क्योंकि स्वतन्त्रता का अर्थ है कि दूसरे उसके मार्ग में बाधक न हों और उसके साथ जोर-जबरदस्ती न करें और यह बात वहां सम्भव नहीं है कि जहां कानून नहीं है।" लॉक की मांग यह रही कि मनुष्य के निजी हित के कुछ क्षेत्रों को न केवल अलंघ्य ही समझा जाना चाहिये अपितु इन क्षेत्रों में प्रजाजन के अधिकारों की सुरक्षा कानून से होनी चाहिये। निस्सन्देह यहां जहाज कर पर लगाये गये टैक्स का, एकाधिकारों के सम्बन्ध में उठे वाद-विवाद का और स्टुअर्ट वंशियों द्वारा की गई मन-मानी गिरफ्तारियों का प्रसंग था। पार्लियामेण्टवादियों का दावा यह था कि स्टुअर्टवंशी शाही परमाधिकारों को धकेल कर उन क्षेत्रों में ले जाना चाहते हैं—जिनमें कि राजा देशविधि के पूर्ववर्ती निर्णयों के अधीन है; शाही परमाधिकार तो, जैसी कि प्रथा चली आई है, सुरक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था तथा सम्राट् के विवाह सम्बन्धी विषयों तक ही सीमित है।

परन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है, लॉक ने पूर्व निर्णय अथवा पूर्व उदाहरण के आधार पर अपने पक्ष का समर्थन नहीं किया। उसका तो यह दावा था कि सभी मनुष्य परमेश्वर के पुत्र हैं, परमात्मा के अपने हैं और उसका काम करने के लिए हैं। परमेश्वर ने उन्हें विवेकशील और सामाजिक प्राणी बनाया है। इस कथन से उसका यह अभिप्राय था कि उन सभी में 'प्रकृति-नियम' (Law of Nature) को समझने की अव्यक्त क्षमता विद्यमान है—उस प्रकृति-नियम को कि जिसके अनुसार सहयोगी सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक न्यूनतम शर्तों का अथवा जीवन-यापन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के सम्बन्ध में मनुष्य के 'प्राकृतिक अधिकारों' (Natural Rights) का निश्चय किया जाता है। लॉक की दृष्टि में मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों का प्रतिपादन करने वाले ये तर्कवाक्य वैसे ही स्वतः-स्पष्ट तथा सच थे जैसे कि ज्यामिति

कि स्वार्थसिद्धि का होना ही है। परन्तु नागरिकों की वक्ता के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का तर्क-वितर्क का आधार इन्हीं को बनाना होगा।

इस प्रस्थान बिन्दु से चलकर स्वभावतः दो महत्वपूर्ण परिणाम निकले। एक तो यह था कि तर्क-वितर्क की आयु में आने से पहले तक बच्चों के साथ, बहुत कुछ भिन्न प्रकार का व्यवहार होना चाहिए। दूसरा परिणाम यह निकला कि दूसरों को अपनी इच्छा के वशीभूत रखने वाले निरंकुश शासक आदि विवेक से काम लेने वाले व्यक्ति अपने आप ही विवेकशील प्राणियों की श्रेणी से बहिष्कृत रह जाएंगे और इस प्रकार विवेकशील प्राणियों को उनके साथ वैसा ही व्यवहार करने का अधिकार मिल जाएगा जैसा व्यवहार कि वे किसी पशुवत् क्रूर मनुष्य अथवा अपराधी के साथ करते। संक्षेप यह है कि लॉक ने प्रकृति-नियम की तुलना में व्यक्ति के वही कृत्य निश्चित किये जो नागरिक कानून के सम्बन्ध में किसी शासन-संस्था के माने जाते हैं। अपनी विवेक बुद्धि के द्वारा, व्यक्ति यह भलीभांति समझ सकेगा कि नियम अथवा कानून क्या है; वह इसका प्रयोग उदाहरण विशेषों पर कर सकेगा और जो लोग इसका उल्लंघन करेंगे, वह उन्हें दण्ड दे सकेगा।

परन्तु इस दशा में कुछ असुविधाएं भी थीं। क्योंकि, 'प्रकृति-नियम' के अन्तर्गत क्या कुछ है—इस विषय में व्यक्तियों में, विशेषतया, यदि वे एक बहुत ही व्यापक क्षेत्र के निवासी हुए तो, कभी-कभी मतभेद होना सम्भव है; प्रकृति-नियम को वे अपने मामले में प्रयुक्त करने में कुछ पक्षपात दिखाते हैं; और अपराधी व्यक्तियों को दण्डित करने के अपने अधिकार को बरतने में वे सदा पर्याप्त दृढ़ नहीं रहते। इसलिए यह मान लिया जाता है कि व्यक्तियों को परस्पर एक करार करना होगा—जिसके द्वारा विधानसभा स्थापित की जाती है। इसके बाद आगे से 'नियम के अन्तर्गत क्या कुछ है'—इसका निर्णय विधायक अधिनियम द्वारा विधान सभा द्वारा प्रयुक्त बहुमत-सिद्धांत से होगा और प्रजाजन के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा भी इसी सिद्धांत से होगी।

इस प्रकार संस्थापित विधान-संस्था तथा कानून को विशिष्ट मामलों में प्रयुक्त करने के लिए तथा इसको कार्यान्वित करने के लिए नियुक्त कार्यपालिका (Executive) अथवा न्यायपालिका (judiciary) के मध्य एक दूसरा करार भी हुआ है—यह भी मान लेना होगा। जो शासन-संस्था इस प्रकार शासितों की 'सहमति' पर निर्भर होती है केवल वही वैध शासन-संस्था होगी। वैध बनी रहने के लिए इस संस्था को समाज की सार्वजनिक भलाई तथा व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के कार्यों तक अपने आपको सीमित रखना होगा; इसके बनाए हुए नियम 'प्रकृति-नियम' के लिए सन्तोषप्रद' होंगे अर्थात् शासन-संस्था किसी मनुष्य से उसकी सहमति के बिना उसकी सम्पत्ति को नहीं छीन सकती; वह अपने विधान-निर्माण के अधिकार को हस्तान्तरित नहीं कर सकती। यदि करार की इन शर्तों का पालन किया जाता है तब तो प्रजाजन का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उसका भक्त रहे। यदि शर्तें तोड़ दी जाती हैं तो "बिना अधिकार के बल-प्रयोग की वास्तविक औपधि अथवा उपाय इस विरोध का विरोध करना ही है।" 'प्रजाजन को बाधा देने का अधिकार है। लॉक ने सर्वसत्ताधारी द्वारा किए गए अतिक्रमणों को सम-सामयिक विचारणीय विषयों से निकटसम्बद्ध अर्थात्—कानून के स्थान पर मनमानी इच्छा—स्वच्छन्दता का प्रयोग, पार्लियामेंट के उचित सम्मेलन का प्रतिषेध, किसी विदेशी राजकुमार के लक्ष्य से देश के साथ विश्वासघात—आदि से निकट सम्बद्ध बताया। इन अवैध कृत्यों के कारण जनता फिर से प्राकृतिक दशा में लौट आती है और तब प्रजाजन प्रति-रोध करने के अपने प्राकृतिक अधिकारों को क्रियान्वित कर सकते हैं।

लॉक की प्रत्ययात्मक अथवा इस धारणामयी योजना के विवरणों के सम्बन्ध में वितण्डावाद करके उसके मत पर थोथा आक्षेप करना काफ़ी आसान है। उदाहरण के लिए 'प्रकृति नियम' तथा 'प्राकृतिक अधिकारों' का उपकरण अत्यन्त अस्त-व्यस्त प्रतीत होता है यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि क्या लॉक ने पालन की जा सकने वाली नियत व्यव-

Digitized by Arya Samaj Foundation, Chennai and eGangotri
 स्थायी का प्रतिपादन करने वाले 'प्राकृतिक-नियम' तथा 'प्राकृतिक अधिकारों' के अर्थ में लिए जाने वाले 'नियमों' अथवा कानूनों में और आचार-संहिता का विधान करने वाले विधायकों द्वारा विहित नियमों के अर्थ में लिए गये 'नियमों' अथवा कानूनों में परस्पर सम्भ्रान्ति को स्थायी नहीं बनाया ? एक प्रकार से तो यह काम उसने अवश्य किया; क्योंकि 'नियम' अथवा 'कानून' शब्दों का प्रयोग विधायक अथवा नियोगार्थक (prescriptive) रूप की अपेक्षा वर्णनात्मक अर्थों में करने पर क्या अन्तर पड़ता है— इसको अभी तक स्पष्ट नहीं किया जा सका है ।

परन्तु तो भी लॉक का एक स्थायी महत्व का यह पूर्वपक्ष तो बना ही रहा कि नैतिकता को, जो कि विवेक की आंख से पहचान में आने योग्य नियमों का ही एक पुंज है, प्रथा से और नियम से भिन्न समझने की आवश्यकता है और उसका यह पूर्वपक्ष भी बना रहा कि स्वयं नियम के गुण-दोषों की विवेचना नैतिकता के आधार पर करनी होगी । इसके अतिरिक्त 'प्राकृतिक अधिकारों' के भीतर प्रतिष्ठापूर्वक स्थापित आधार-भूत नियम ही, मनुष्यों की अपने-आपको परिरक्षित बनाए रखने की तथा सामाजिक जीवन का उपभोग करने की प्रवृत्ति के कारण, सभी मनुष्यों पर सार्वलौकिक रूप से प्रयुक्त होंगे । जीवन तथा सम्पत्ति को अक्षत बनाए रखने समेत न्यूनतम नियमों के बिना किसी भी प्रकार का सामाजिक जीवन सम्भव नहीं है । कानून की सभी स्थानीय पद्धतियों की स्थापना ऐसे आधारभूत नियमों के आधार पर ही करनी होगी ।

फिर, लोगों के विवेकशील प्राणी समझे जाने के परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता और समानता सरीखे आधारभूत सिद्धान्त भी हैं । यही अर्थात् सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों के विवेचन में विवेक बुद्धि का प्रयोग ही, तो, लॉक के मत का बध्य-स्थान है । फिल्मर के जिस मत को खंडन करने में लॉक ने अपनी पुस्तक 'फर्स्ट ट्रीटाइज' में इतना अधिक समय खर्च किया था उसकी निर्बलता यही थी कि इस मत के अनुसार कुछ मनुष्यों की दूसरों से श्रेष्ठता एक "दैवी आदेश" थी । इसलिए लॉक को

यह सिद्ध करना था कि विवेकशील प्राणियों के रूप में मनुष्यों की एकता की उसकी आधारभूत स्थापना, बाइबिल में प्रकट परमेश्वर की इच्छा के स्पष्ट विरुद्ध नहीं है। इसलिए उसको फिल्मर पर विद्वत्तापूर्ण आक्षेप करना पड़ा।

लॉक की पद्धति की मुख्य आलोचना इस दृष्टि से हुई है कि इसने विवेक बुद्धि के प्रयोग और अपने सिद्धान्तों के पारस्परिक सम्बन्ध की गलत धारणा बनाई। उसने इस बात को अनुभव किया कि जो मनुष्य सामाजिक विषयों को विवेक-बुद्धि द्वारा समझने लगता है वह समानता और स्वतन्त्रता के न्यूनतम सिद्धान्तों से और सर्वनिष्ठ हित के प्रति सन्मान की भावना से इस अर्थ में बन्ध जाता है कि समुचित युक्तियां प्रस्तुत करने की जिम्मेदारी सदा उस व्यक्ति की ही रहेगी जो दूसरों के विरुद्ध भेदभाव बरतना अथवा उनके मार्ग में बाधा उपस्थित करना चाहेगा। इसी बात को लॉक ने वच्चों अथवा चिरंकुश शासकों के प्रति विवेकशील मनुष्य का रुख बताया है। परन्तु ऐसे सिद्धान्तों का विवेक-बुद्धि से किस प्रकार सम्बन्ध है इस सम्बन्ध में की गई उसकी कल्पना युक्तियुक्त नहीं थी। उसने इन सिद्धान्तों को स्वतःस्पष्ट वे स्वयं सिद्धियां समझा कि जिन्हें विवेकशील मनुष्य को ज्यामिति की सत्यताओं की भांति ग्रहण करना होगा, इनको उसने ऐसी समस्याओं के समझने के विवेकपूर्ण उपाय के पूर्वानुमान नहीं समझा। दूसरे शब्दों में, उसका ज्ञान-शास्त्र त्रुटिपूर्ण था, उसके सिद्धान्तों में त्रुटि नहीं थी—यद्यपि यह सोचना उसकी भूल थी कि सम्पत्ति का अधिकार तथा स्वतन्त्रता का सिद्धान्त दोनों समकक्ष हैं।

लॉक ने सम्पत्ति के अधिकार पर जो इतना बल दिया है उस पर, अंशतः तो, चार्ल्स प्रथम के जहाज-कर पर लगाए गए उस टैक्स के संबंध में उठे वाद-विवाद के संदर्भ में विचार किया जाना है जिसको साम्पत्तिक अधिकारों पर एक आक्रमण माना गया था और अंशतः, उस पर संस्थापित समाज-व्यवस्था के प्रति लॉक की निष्ठा के प्रकाश में विचार

किया जाना है। लॉक क्रान्तिकारी नहीं था कि वह समाज में आधारभूत परिवर्तन चाहता था। वह उसने अपनी सम्पत्ति को व्यक्ति के स्वार्थ के अतिरिक्त भाग के रूप में ही नहीं देखा कि जिस पर उसने अपने परिश्रम से अपने शरीर की छाप अंकित की हो; अपितु उसके स्वार्थ का ऐसा अतिरिक्त भाग भी समझा कि जो सामाजिक व्यवस्था में उसको आधार-स्तम्भ प्रदान करता है। अपनी सम्पत्ति पर टैक्स लगाने देकर व्यक्ति शासन-संस्था से सहमत हो गया और बदले में शासन-संस्था ने उसके जीवन तथा उसके धनधान्य की रक्षा का निश्चय दिलाया।

लॉक के 'प्रकृति नियम' तथा 'प्राकृतिक अधिकारों' के समर्थन में जैसी युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं, उसी प्रकार की युक्तियाँ उसके 'सहमति' से शासन के सिद्धान्त के समर्थन में देने की आवश्यकता है। आपस में तथा सरकार के साथ शाब्दिक तथा अर्धशाब्दिक पदावली में संविदा करते व्यक्तियों के अपने नमूनों की व्याख्या करने की कोशिश में रत लॉक के मार्ग में सभी प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं। सम्य समाज के अधिसंख्य लोगों ने कभी कोई स्पष्ट करार नहीं किया था। यदि उनके पूर्वजों ने कोई ऐसा करार किया हो तो उससे वे अपने वंशजों को कैसे बांध सकते थे ? यदि सक्रिय सहमति के स्थान पर 'मौन सहमति' शब्द रख दिया जाय तब तो भला ऐसी कौन सी सरकार रह जाएगी जो 'जनता की सहमति' से शासन न करती हो ? क्योंकि उस अवस्था में तो केवल वे ही देश, जहाँ प्रजा का सक्रिय प्रतिरोध हो अथवा भारी मात्रा में 'उद्ब्रजन' (Emigration) हुआ हो, सहमति से शासन करने वाले देशों की सूची में सम्मिलित नहीं किये जायेंगे। तो भी 'सहमति' पर बल देने का लॉक का अर्थ यह है कि उसकी सम्मति में कुछ सरकारें 'वैध' हैं तथा कुछ अवैध हैं।

फिर भी लॉक की स्पष्टतया प्रकट की गई विचारधारा का आधार तो निश्चय ही व्यक्ति तथा सरकार के आपसी सम्बन्ध को नैतिक बनाने की चेष्टा है। लॉक का आधारभूत मत यह था कि यदि कोई सरकार

मनमाने ढंग से नहीं है, यदि वह प्रकृति नियम द्वारा अलंघ्य घोषित क्षेत्रों पर आक्रमण करती है अथवा यदि कोई ऐसा कानून बनाती है कि जिसको व्यक्ति अपने अन्तःकरण के अनुकूल न बना सकता हो तो व्यक्ति द्वारा उस सरकार का प्रतिरोध न्यायोचित होगा ।

लॉक का सहमति का सिद्धान्त मुख्यतया इस मांग का निरूपण करता है कि राजनीतिक दायित्व को एक विशेष प्रकार का वह नैतिक दायित्व समझना होगा जो सरकार के प्रति 'प्रतिरोध' (Resistance) के समर्थन का आधार बनता है । (इस बात का इस अनुमान से बहुत अच्छा मेल बैठता है कि 'सेकेंड ट्री टाइज़' पुस्तक लगभग १६८० में, १८६८ की क्रांति से बहुत पहले लिखी गई थी) । क्योंकि लॉक ने मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों के परिपूरक प्राकृतिक दायित्वों के अतिरिक्त शेष सभी दायित्वों को स्वेच्छा से अपने ऊपर लिया हुआ समझा था, इसलिए यह बात समझ में आ सकती है कि वह व्यक्ति तथा सरकार के मध्य वर्तमान घोषित नैतिक सम्बन्ध पर बल देने के लिए, स्वेच्छा से अपने ऊपर लिए हुए उत्तरदायित्वों के नमूने को, करार के एक आदर्श को प्रयुक्त करता ।

यहां यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि व्यक्ति तथा सरकार के आपसी सम्बन्ध को नैतिक बनाने के प्रयत्न के रूप में 'सहमति' का अर्थ लगाना तब तक पर्याप्त व्यर्थ रहेगा जब तक ऐसी कोई संस्थात्मक व्यवस्था नहीं की जाएगी कि क्रांति का अंतिम आश्रय लिए बिना ही नैतिक आलोचना फलोत्पादक हो जाय । 'सहमति' को कम, प्रतिनिधित्व की किसी प्रकार की पद्धति से और स्वतन्त्र भाषण की सुरक्षा से सहारा दिये जाने की आवश्यकता है ही । यह आलोचना पर्याप्त निर्दोष है और यह तो संदेहास्पद ही है कि लॉक ने सहमति प्रदान का सम्बन्ध प्रतिनिधित्व की किसी पद्धति से जोड़ा था या नहीं । उसने इसका सम्बन्ध कुछ अधिक सीमित रीति से कराधान की पद्धति से अवश्य जोड़ा था । प्रथानुसार पार्लियामेंट को 'सलाह तथा सहमति' के लिए आमन्त्रित किया

गया था। लॉक ने यह परिकल्पना की कि प्रतिनिधियों ने बहुमत निर्णय द्वारा कराधान के लिए सहमति प्रदान की थी—कराधान की यह वही निर्णायक मांग थी जिससे अंत में 'गृह-युद्ध' भड़क उठा था। परन्तु यह तो सन्देहास्पद ही है कि उसने सभी प्रकार के विधानों पर क्रियान्वित करने के लिए 'सहमति' की इस सस्थोपयोगी धारणा को सामान्य विनय बनाया या नहीं। निश्चय ही उसने यह यत्न नहीं किया था कि कराधान से सहमति की इस प्रथा को विकसित करके संसदीय प्रतिनिधित्व का सामान्य सिद्धांत बना दिया जाए। यह कोई बात नहीं थी; क्योंकि प्रतिनिधित्व की धारणा का, सम्पत्ति के स्वामित्व की उसकी विचारधारा से और इसलिए कराधान की विचारधारा से, निकट सम्बन्ध था।

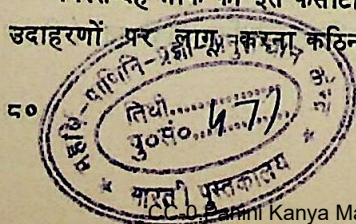
पालियामेंट के चुनाव में प्रत्येक वयस्क नागरिक को वोट देने का अधिकार हो—इस विचारमात्र से लॉक चकरा जाता। और इसके पर्याप्त कारण हैं; क्योंकि उसकी चिन्ता के मुख्य विषय—स्वतन्त्रता के परिरक्षण की दृष्टि से, इतिहास के उस युग में एक लोकप्रिय सभा अपेक्षया संकुचित और अधिक प्रबुद्ध आधार से भर्ती की हुई सभा से अधिक भय दिखाने वाली सिद्ध होती। ह्यूम ने बाद में इसी बात को इन शब्दों में प्रकट किया : जनता की आवाज को हम जितना अधिक सुनते हैं, उतना ही अधिक हमें यह अनुभव होता है कि यह आवाज परमेश्वर की नहीं है।

परन्तु स्वतन्त्र-भाषण के विषय में लॉक बहुत अधिक कल्पनाशील सिद्ध हुआ और उसने एक प्रबल परम्परा के तथा राजनीतिक विषयों पर जनता के सन्मुख अपनी बात कहने और सार्वजनिक सम्मेलन करने के प्रजाजन के अधिकार की गारंटी देने वाले विधान के आविर्भाव का मार्ग प्रशस्त कर दिया। सत्रहवीं शताब्दी में यह विषय राजनीतिक क्षेत्र में नहीं, धार्मिक क्षेत्र में ज्वलन्त प्रश्न बना हुआ था। यहां, फिर, उसका लक्ष्य मुख्यतः नकारात्मक ही रहा; वह नागर दण्ड नायकों के अनावश्यक हस्तक्षेप से धार्मिक सम्प्रदायों को बचा रखना चाहता था। इस विषय में लॉक की पुस्तक 'लेटर कन्सर्निंग टॉलरेशन' (जो कि

विषय के, विचारशास्त्र के इतिहास में एक सीमाचिह्न सिद्ध हुई है, इस पुस्तक में विषयविशेष पर लॉक की स्वतन्त्रता के लिए उत्कट चिन्ता अभिव्यक्त की गई है। नागरिक प्रशासन तथा धार्मिक श्रद्धा के क्षेत्रों में पर्याप्त स्पष्ट भेद बताने वाले अग्रणी व्यक्तियों में उसकी गिनती है। उसने यह युक्ति दी कि प्रजातन्त्र मनुष्यों की वह संस्था है जिसका निर्माण नागरिक हितों—जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, स्वास्थ्य—को अस्तित्व में लाने, उनकी रक्षा करने तथा उन्हें बढ़ाने के लिए हुआ है। दूसरी ओर चर्च मनुष्यों का एक ऐच्छिक समाज है, जिसमें लोग परमेश्वर की पूजा करने के लिए और अपनी आत्माओं की मुक्ति के लिए, सम्मिलित होते हैं। इसलिए नागर-दण्डनायक का कर्तव्य यह है कि वह व्यक्तियों के नागरिक हितों से सम्बद्ध वस्तुओं के स्वत्व को उनको दिलाने की गारंटी दे। नागरिकों के आत्माओं की चिन्ता करना अथवा धर्म को मनवाना उसका काम नहीं है। केवल तभी जब कि किसी धार्मिक सम्प्रदाय की मान्यताओं से कुछ ऐसी कारवाइयां प्रचलित हो जाएं कि जो व्यक्ति के अधिकारों के लिए अथवा सार्वजनिक सुरक्षा के लिए भयप्रद हों दण्ड-नायक को कारवाई करने का अधिकार है।

लॉक ने 'अव्यवहार्य' (केवल ख्याली) सम्मतियों—जैसे कि एक रोमन कैथोलिक का सत्त्वपरिवर्तन सम्बन्धी विश्वास है—(जो उसके पड़ोसी को कोई हानि नहीं पहुंचाता है)—और उन 'व्यावहारिक सम्मतियों' में एक महत्वपूर्ण अन्तर बताया, जो राजद्रोहात्मक भी हो सकती हैं, कारण कि वह किसी विदेशी राज्य का कर्मचारी भी हो सकता है। उसने यह तर्क उपस्थित किया कि कोई धार्मिक सम्प्रदाय जहां तक पिछले प्रकार की मान्यताओं से वचनबद्ध हो केवल वहीं तक नागरिक दण्डनायक को उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार है।

निस्सन्देह लॉक की इस कसौटी को सीमान्त रेखा पर के कितने ही उदाहरणों पर लागू करना कठिन है। यह सदा कठिन ही रहता है।



क्योंकि "नैतिकता की सीमा रेखाएं गणित की आदर्श रेखाओं—सरीखी नहीं हैं" ^{Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri} परन्तु लॉक की मान्यता की महत्त्व इस बात में है कि उसने प्रकल्पना को ठीक रास्ते पर डाल दिया। वस्तुतः तो उसका दावा यह था कि व्यक्तियों की निष्ठाओं और उनकी सभाओं में हस्तक्षेप करने के पर्याप्त कारणों को उपस्थित करने का दायित्व सदा नागर-दण्ड नायकों का ही होगा। पर्याप्त कारण केवल तभी होंगे जब कि सार्वजनिक सुरक्षा के लिए अथवा दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों के लिए खतरा उपस्थित हो जाए। नैतिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में अनुमत स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में बनाए गए इंगलिश कानून का आज यही एक प्रमुख सिद्धांत है। आज जो इसको इतनी व्यापक स्वीकृति मिली हुई है उसका श्रेय जॉन लॉक सरीखे उन साहसी विचारकों को कम नहीं है; जॉन लॉक ने ही धर्म के क्षेत्र में पहले-पहल वकालत की थी।

तो फिर, जॉन लॉक के राजनीतिक दर्शन का मुख्य अंग प्रभुत्व के प्रतिष्ठापन तथा उसके क्रियान्वयन की परख नैतिक कसौटी के द्वारा करने का उसका दृढ़ निश्चय था। इसका परिणाम अधिकतर प्रजाजन की स्वतन्त्रताओं का समर्थन हुआ और इस समर्थन के आधार पर प्रशासन के एक अधिक व्यापक सिद्धान्त की स्थापना, एक भ्रष्ट तथा असंगत ढंग से हो गई।

इस पद्धति में विधायक तथा कार्यकारी अंगों को पृथक-पृथक रखने की मांग की गई और इसके अनुसार प्रजाजन को अन्तःकरण के आधार पर विद्रोह करने की असीमित छूट मिल गई—इसलिए इस पद्धति में निहित आशंकाएँ तो पर्याप्त स्पष्ट हैं ही। इस पद्धति में अराजकता को तो मानो घेर कर रख ही लिया गया हो और इस अवस्था में, सम्भवतः, सरकार के लिए जनकल्याण सम्बन्धी दृढ़ नीतियों का परिपालन कठिन हो जाय। लॉक इन आशंकाओं से खूब परिचित था; जिस 'सार्वजनिक हित' में प्रजाजन तथा दण्डनायक दोनों की निष्ठा होना आवश्यक है उस सार्वजनिक हित को कसौटी बनाने के महत्त्व का असाधारणतया प्रति-

पाणिनीय विद्या by पण्डित साचराम चौधरी यह है कि उसने उस उद्देश्य लिखा जबकि व्यक्ति को मुख्य भय कार्यकारी के बढ़ते अधिकारों के कारण था ।

राजनीतिक विचारधारा की प्रत्येक पद्धति में कई सिद्धान्त तो अंतर्निहित ही होते हैं । इन पद्धतियों में अन्तर किन्हीं सिद्धांतों के पूर्ण निषेध अथवा उनकी पूर्ण उपेक्षा के कारण तो नहीं है, अपितु एक को छोड़कर दूसरे पर अधिक बल देने के कारण ही है । लॉक की रचना का महत्व इस बात में है कि उसने प्रभुत्व की समस्याओं के विवेकमय, नैतिक, समाधान को साफ-साफ बता दिया और इस बात में है कि उसने उस राजनीतिक स्थिति का एक शक्तिशाली, प्रशंसनीय तथा समयोचित सूत्रीकरण कर दिया कि जिसमें स्वतन्त्रता को एक आधारभूत तत्व समझा जाता है ।

(बर्ट्रैंड डी जूवेनेल)

अठारहवीं शताब्दी की जीवन-पद्धति पर रूसो का बड़ा प्रबल प्रभाव पड़ा। बहुत से मां-बाप जो अपने बच्चों को जान गए और उनकी ओर ध्यान देने लगे—इसके लिए हम उसी के कृतज्ञ हैं; उसने प्राकृतिक सौंदर्य के उपभोग को प्रोत्साहित किया और बागबानी की रीति के परिवर्तन में योगदान दिया; व्यक्तिगत बन्धुताओं की रीति में शिष्ट संयम के स्थान पर जो अत्यधिक प्रदर्शकता आ गई—इस परिवर्तन का वह भी एक उपकरण बना; एक पीढ़ी विलम्ब के पश्चात् उसकी राजनीतिक विचार-धारा ने रौबसप्येयर को प्रोत्साहित किया; और और भी अधिक विलम्ब से उसकी 'सोसीनियन' (एकात्मवादी) धार्मिकता उन्नीसवीं शताब्दी में व्याप्त हुई। ऐसा दूसरा लेखक मिलना कठिन है कि जिसके सुझावों का इतना व्यापक प्रभाव रहा हो।

परन्तु यह एक काफी आश्चर्यजनक बात है कि रूसो के सिद्धान्त के केन्द्रीय भाग की ही सर्वथा उपेक्षा कर दी गई। परन्तु क्या यह कोई इतनी नई बात है? इस विषय में रूसो बौद्धिकता में अपने युग से आगे बढ़ा हुआ ही नहीं था; अपितु वह अपने युग की उस प्रवृत्ति का सफल सीधा प्रतियोगी भी था जो अब, हमारे युग में, विकसित होकर प्रबल प्रेरक शक्ति ही बन गई है : यहां तक कि उसका रुख हमें हमेशा परेशान करने वाला है।

रूसो सामाजिक विकास का पहला महान् भाष्यकार है। मानव समाज की इतिवृत्तात्मक प्रगति का पहला सुव्यवस्थित चित्रण उसी ने किया था; यहां वह एंगल्स से तथा मानव समाज के विकास को एक लोकप्रिय विषय बनाने वाले सभी लेखकों से पूरी एक शताब्दी आगे आ जाता है। सामाजिक विकास की अवस्थाओं पर ध्यान देने का और इस प्रक्रिया में अपनी दृष्टि से निर्णायक कारकों को प्रकट करने का

उसके द्वारा सभ्यता के विकास के लिए जो प्रयास किए गए थे, उनसे प्रभावशाली दिखाई देता है। उस समय 'प्रगति' (Progress) की बात तो सभी करते थे परन्तु रूसो ही अकेला वह विचारक था कि जिसने इसको एक समझने योग्य प्रक्रिया अनुभव किया। अब देखिए, ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा में, केवल इसी कारण, आकाश-पाताल एक कर देना चाहिए था कि वही पहला वह लेखक था कि जिसने उस वस्तु को समझाने की कोशिश की कि जो सबकी जवान पर थी। इसके विपरीत, यही वह बात है कि जिसके कारण रूसो के विरुद्ध वे द्वेष-भावनाएं भड़क गईं कि उनसे उसके जीवन के अन्तिम भाग में उस पर आपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा।

यह रूसो ही है जो अपनी 'डायलॉग्स' (संवाद) की पांडुलिपि 'नोब्रेडेस' की मुख्यवेदी पर इसलिए चढ़ा रहा है कि केवल इसी रीति से अपने उत्पीड़कों के विरुद्ध किया गया उसका प्रतिवाद अगली पीढ़ी के हाथ में पहुंचता सुनिश्चित होगा—यह निष्फल-प्रयत्न रूसो है जो पेरिस की गलियों में आवाज धूम रहा है और इस कारण निराश होकर कि अपने समर्थन में लिखी गयी पुस्तक को अपनी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित करने वाला कोई विश्वासपात्र व्यक्ति नहीं मिला—उस समर्थक पाण्डुलिपि को अपनी मुट्ठी में दबाए हुए है... यह रूसो है जो गली-कूचों के नुक्कड़ों पर खड़ा हुआ अपने हाथ से लिखे पर्चों को बांट रहा है और उन्हें पास से गुजरने वाले ठुकरा रहे हैं—ये हैं वे चित्र जिनको देखकर हमें तरस तो आता है, तो भी साथ ही हम यह भी सोच लेते हैं कि उसका यह आचरण किसी रोग के कारण होगा।

फिर हम जब "डायलॉग्स" को पढ़ते हैं तब हमें यह लगता है कि रूसो मुख्यतः अपनी अव्यवस्थित कल्पनाओं का ही शिकार था। मैंने 'मुख्यतया' कहा है, 'एकमात्र' नहीं। रूसो ने भले ही इसका कितना ही अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन क्यों न किया हो, 'फिलोसोफीज' की ओर से उसको बदनाम करने का सुव्यवस्थित प्रयत्न चालू रहा—मुझे इस बात के निश्चयायक प्रमाण प्रतीत होते हैं। तानेभरी मीठी चुटकियों और

हास्यास्पद असंगत उपाध्यायों का उस पर हमला कर दिया गया और वह उसके अपने स्वभाव के कारण सुगम हो गया तथा उसकी शीघ्र धुब्ध हो जाने की आदत के कारण प्रभावोत्पादक हो गया। इस वकालत से तो काम नहीं चलेगा क्योंकि वह एक 'दुर्वोध' व्यक्ति था इसलिए 'फिलोसोफीज' (philosophes) की प्रतिक्रिया में कोई जानबूझकर वरती दुर्भावना नहीं थी; उन्होंने उसको एक भयंकर मनुष्य समझ कर उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया और उसके 'दुर्वोध' होने का फायदा उठाकर, अपनी निपुण छेड़छाड़ से उसे और भी अधिक 'दुर्वोध' बना दिया और अंत में नैराश्यपूर्ण एकाकीपन के लिए बाध्य कर दिया।

परन्तु 'प्रगति' के इन प्रेमियों ने सामाजिक विकास के प्रथम सुव्यवस्थित भाष्यकार को भयंकर क्यों समझा ? इसका एक ठोस और महत्वपूर्ण कारण था : क्योंकि रूसो ने विकास की रूपरेखा तो अवश्य ही बड़ी तेज नोकदार पेंसिल से बनाई—विकास की सुस्पष्ट रूपरेखा तो अवश्य बनाई, परन्तु इसमें रंग गहरे भर दिए। "फिलोसोफीज" ने चर्च से युद्ध छेड़ा; चर्च को उन्होंने 'प्रगति' के मार्ग में रोड़ा अटकाने वाला समझा परन्तु साथ ही उसको लगातार निर्बल हो जाने वाला पक्ष भी समझा। अब यदि उनके अपने ही अनुयायियों में से निकल कर कोई नया दावू, 'प्रगति' के कारण उपस्थित हो सकने वाले भयों से सावधान करने की आवाज से रूप में, उनके मार्ग को रोक लेता तो वे उसको क्यों क्षमा करते ? इस चुनौती देने वाले पर 'जघन्यों को पीस डालो' की युद्ध-घोषणा लागू हुई। रूसो बताता है कि जब 'फिलोसोफीज' जेसुइट लोगों को फ्रांस से निकाल देने में समर्थ हो गये, तब उन्होंने एक अकेले कण्ट-दायक व्यक्ति से पीछा छुड़ाना तो बच्चों का खेल ही समझा।

अपने सिद्धान्त के एक संक्षिप्त उपसंहार में रूसो ने 'फिलोसोफीज' की शत्रुता को समझने की कुंजी प्रदान की है। रूसो की सभी रचनाओं को दूसरी बार परिश्रम से पढ़ने वाले पाठक से यह आशा करना स्वाभाविक है कि उसके भाषण में इस अध्ययन से प्राप्त शिक्षाओं का सार होगा;

भाषण के शब्द इस प्रकार हैं : "उस (रूसो) के महान् सिद्धान्त के विकास की प्रक्रिया भर में यह बात स्पष्ट दिखाई देती है कि प्रकृति ने मनुष्य को प्रसन्न और साधु बनाया है परन्तु समाज उसको भ्रष्ट कर देता है और उसके दुःखों का कारण बन जाता है, 'एमाइल' ग्रन्थ (Emile) को ही लीजिए जो बहुत पढ़ा गया है तथा जिसके समझने में बहुत सी भूलें हुई हैं, मनुष्य की सहज साधुता पर लिखा गया एक निबन्ध मात्र ही है; इसका लक्ष्य यह सिद्ध करना है कि मनुष्य की संरचना से असंबद्ध, अधर्म तथा भ्रान्ति उसकी संरचना पर बाहर से हमला करते हैं और इसको क्रमशः अवनत कर देते हैं ।

"अपने पहले लेखों में उसने उस छलिया रोव को नष्ट करने की अधिक चिन्ता की है कि जिसके कारण हम अपनी आफ़त के साधनों की ही मूर्खता से प्रशंसा करने लगते हैं और वह इस मिथ्या मूल्यांकन में संशोधन करने की कोशिश करता है कि जिसके कारण हम शरारती बुद्धिमानों का आदर करते हैं और उपकारी गुणियों से घृणा करते हैं । सभी स्थानों पर वह सिद्ध करता है कि मनुष्य जाति अपनी आदिम संरचना में अधिक भली, अधिक समझदार और अधिक सुखी रहती है और ज्यों-ज्यों यह इससे परे हटती जाती है, अज्ञानी, दुःखी और घिनौनी बनती चली जाती है । हमारे दुर्गुण न बढ़ें, इसके लिए उसका लक्ष्य यह है कि निर्णय करने में हुई अपनी भूलों को सुधार ले ।"

यह तो सरलता से समझ में आ सकता है कि 'फिलोसोफीज' ने 'प्रगति' के सम्बन्ध में इस निराशाजनक दृष्टिकोण को कितना खिझाने वाला समझा होगा । और वह भी समझ में आ सकता है कि, जिन दो शताब्दियों में 'प्रगति' वेगवती रही—उतने अवधिकाल में, रूसो के प्रशंसक, अपनी समझ के अनुसार अपने योद्धा की हास्यास्पदता पर हजरत नूह का परदा डाल देने को तैयार थे । परन्तु वह सिद्धान्त बेढंगा हो या न हो, जिस सिद्धान्त को एक महान् लेखक अपने संदेश का सारतत्व बनाता है उस पर उसकी रचनाओं के भ्रान्तपाठ के बिना मुलम्मा नहीं

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai
 चढ़ाया जा सकता। लिखक के प्रति आदर भावना का यह स्फूर्तिदायक है कि उसकी रचनाओं को उस धारणा के प्रकाश में पढ़ा जाय कि जिस धारणा का नाम वह स्वयं अपनी केन्द्रीय धारणा रखता है।

यह बात मुझे कई वर्ष हुए तब सूझी जबकि मैंने रूसो की “सोशल कंट्रैक्ट” पुस्तक पढ़ते हुए यह अनुभव किया कि यह किसी भावी ‘गणतंत्र’ का आशापूर्ण नुस्खा तो नहीं है, अपितु राजनीतिक ह्रासरूपी रोग का केवलमात्र एक निदान-दर्शक विश्लेषण ही है। ‘सोशल कंट्रैक्ट’ में रूसो ने किसी बड़े और जटिल समाज के प्रशासन को ‘प्रजातन्त्र’ में परिवर्तित करने का कोई नुस्खा प्रस्तुत नहीं किया है : इसके विपरीत उसने यह दिखलाया है कि एक ओर तो अधिक संख्या के कारण और दूसरी ओर प्रशासन में भरी हलचल (क्रियाशीलता) के तकाजे के कारण राजनीतिक सत्ता का स्वल्प संख्यक लोगों के हाथ में केन्द्रित होना अनिवार्य हो गया और इस तथ्य को उसने प्रजातन्त्र का विरोधी तथ्य समझा। रूसो तो बहुत पहले ही फ्रांसीसी राजनीतिक पद्धति के आमूलचूल नवीकरण के लिए बनाई गई योजना को शंका की दृष्टि से देख चुका था। मरणोत्तर प्रकाशन के लिए अभिप्रेत ‘डायलॉग्स’ में उसने बड़ी कटुता से शिकायत करते हुए लिखा था—

“बड़ी-बड़ी आवादियों और बड़े-बड़े राज्यों को फिर से वैसा ही सरल बना देना कि जैसे कि वे आदिकाल में थे—उसका लक्ष्य नहीं हो सकता था—उसका उद्देश्य यदि सम्भव हो तो उन छोटे-छोटे और समाज की पूर्णता से अपनी परिरक्षा के उद्देश्य से पर्याप्त पृथक्-कृत राज्यों की प्रगति को रोकना और जातियों के ह्रास को रोकना था।...परन्तु विद्वानों की दुर्भावना और उस मूढ़ मिथ्याभिमान के कारण जो सदा प्रत्येक को यह समझने की प्रेरणा देता है कि उसीके अपने विषय में ही सोचा जा रहा है, बड़े राष्ट्रों ने उस प्रकल्पना को अपने ऊपर घटा लिया, जिसकी रचना छोटे गणतन्त्रों के लिए की गई थी। और फिर चिढ़कर, उस मनुष्य को तोड़-फोड़ तथा परेशानियों का प्रवर्तक मानना चाहता कि

जो वस्तुतः राष्ट्रीय कानूनों और संविधानों को आदर देने को अत्यधिक लालायित था और जिसके मन में क्रांति से तथा क्रांति के प्रशंसक सभी प्रकार के 'लीग' के सदस्यों से प्रबलतम घृणा है^१ ।”

‘सोशल कन्ट्रैक्ट’ पुस्तक का विषय सामाजिक करार (संविदा) नहीं है अपितु सामाजिक अन्तःप्रेरणा अथवा अनुभाव (affection) है, सरकार की आधीनता में मनुष्य पर शासन तो अवश्य होगा ही—यह शासक कष्टदायी होता है—और इस बात को जीन-जैक्वीज़ रूसो से अधिक किसी ने अनुभव नहीं किया होगा। परन्तु जो शासन मनुष्य के लिए कम पराया होता है, उस शासन के आधीन हुआ अनुभव मनुष्य को कम कष्टदायक प्रतीत होता है। रूसो का आग्रह है कि ऐसा शासन, केवल इस कारण कि यह प्रजाओं के आम फरमान से अधिकृत है, पराया नहीं रहेगा—ऐसी बात नहीं है। शासन कम कष्टदायक हो इस बात के लिए, शासन को सूत्रबद्ध करने में प्रत्येक मनुष्य को व्यक्तिगत रूप से भाग लेना होगा : जिस पर ‘शासन किया जाना है’ उसको स्वयं अवश्य ही ‘विधायक’ बनना होगा।

साहचर्य के जिस एकमात्र रूप को रूसो वैध समझता है वह साहचर्य है जिसमें साहचर्य के साक्षीदारों का ‘सामूहिक नाम’ जनता (people) होता है और वे विशेषतया इस रूप में ‘नागरिक’ कहलाते हैं कि वे सर्वप्रधान सत्ता में भाग लेते हैं और इस रूप में वे प्रजाजन (Subjects) कहलाते हैं कि वे राज्य के शासन तथा कानून के आधीन होते हैं।^१ शब्द ‘भाग ग्रहण करना’ (participate) आवश्यक है और ऐसे भाग-ग्रहण का वास्तविक होना आवश्यक है। रूसो की दृष्टि में, यह कहना कि जनता सर्वप्रधान सत्ताधारी है, ठोस अर्थ रखता है, यह उस प्रकार

१. ‘ट्रायोसीम डायलॉग (Troisime Dialogue) अध्याय ३१, पृष्ठ १२६-३०। यहां ‘लीग’ वह लीग है जो हैनरी तृतीय के आधीन थी तथा यहां उस हिंसात्मक आन्दोलन की ओर संकेत है कि फ्रांस में अव्यवस्था फैलाने वाली दलबन्दी के कारण खड़ा हो गया था।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
 को कोई कल्पित कथा नहीं है जिससे किसी को किसी सभा के अधिकार-
 सरीखा किसी बोनापार्ट का असमीत अधिकार इतनी सरलता से मिल
 जाय । उनका कहना यह है कि नागरिकों की महासभा के अतिरिक्त;
 कोई और कानून, सम्भवतः नहीं बना सके—इस महासभा को ही
 विधान बनाने का अधिकार प्राप्त है अथवा यों कहिए कि जो इस अर्थ
 में विधायक सत्ता है कि, परिभाषा के अनुसार इसका अधिकार (दूसरे
 को) नहीं सौंपा जा सकता । जनता जो सर्वसत्ताधारी है, और प्रशासन
 (सरकार) जो आदेश को क्रियान्वित करता है—इन दोनों में भूमिकाओं
 के वितरण की विशद व्याख्या निम्नलिखित परिच्छेद में की गई है :

“हम इस बात को समझ गए हैं कि विधान बनाने का अधिकार
 जनता का है और किसी दूसरे का नहीं हो सकता । दूसरी ओर अभी
 प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर यह बात भी आसानी से समझ में
 आ सकती है कि कार्यकारी अधिकार, विधायक अथवा सर्वोपरि संस्था
 के रूप में जन साधारण का नहीं हो सकता, क्योंकि कार्यकारी संस्था का
 सरोकार तो उन कृत्य विशेषों से रहता है जो कानून के क्षेत्र में नहीं हैं
 अथवा परिणामतः, सर्वसत्ताधारी के अधिकारक्षेत्र में नहीं हैं, सर्वसत्ता-
 धारी के कृत्य तो विशुद्ध रूप से विधायक कृत्य ही हैं ।”

सार्वजनिक संस्था की शक्ति का प्रयोग किसी उस एजेंट के माध्यम
 से ही किया जा सकता है—जो जनसाधारण की इच्छानुसार इस शक्ति
 का प्रयोग करता है, इस एजेंट के माध्यम से कि जो राज्य तथा सर्व-
 सत्ताधारी के मध्य सम्पर्क स्थापित करने का काम करता है और जो,
 एक प्रकार से, जनसाधारण के व्यक्तित्व में वह वस्तु प्रस्तुत करता है
 जो कि शरीर और आत्मा के संयोग से व्यक्तिशः प्रत्येक मनुष्य में प्रस्तुत
 होनी है । राज्य के भीतर प्रशासन-संस्था की विद्यमानता का हेतु यही
 है—इस प्रशासन संस्था को भ्रम से प्रायः वह सर्वसत्ताधारी संस्था
 मान लिया जाता है, जिसकी कि यह केवल एक एजेंट ही है ।

तो फिर प्रशासन क्या है ? यह प्रजाओं और सर्वसत्ताधारी के बीच

में स्थापित एक विचौलिया संस्था है जो उनके आपसी सम्पर्क के लिए है—वह संस्था जिसको कानूनों को क्रियान्वित करने का और नागरिक तथा राजनीतिक दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता बनाए रखने का काम, सौंपा हुआ है।^१

रूसो के अनुसार व्यक्ति, जो नागरिक हैं, अपनी सर्वसत्ता का प्रयोग सामूहिक रूप से तब करते हैं जब कि वे कभी महासभा में सम्मिलित होते हैं—अर्थात् कभी-कभी एकत्रित होते हैं, और वे उस प्रशासन के आधीन तो नित्य ही रहते हैं, जो एक ऐसी स्थायी संस्था है कि जिसको कानूनों को क्रियान्वित करने का और दिन-प्रति दिन की व्यवस्था का कार्यभार सौंपा हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधीनता दो प्रकार की है : एक वह आधीनता है जिसके अनुसार प्रशासन (सरकार) सम्मिलित नागरिकों के अधीन रहता है, दूसरी अधीनता वह है कि जिसके अनुसार प्रजाजन प्रशासन के अधीन रहता है।

रूसो सर्वप्रधान सत्ता केवल एक ही मानता है—अर्थात् जनता की सर्व प्रधान सत्ता, दूसरे शब्दों में नागरिकों के समाज की प्रभुसत्ता। यह जनता केवल वहीं तक सत्तारूढ़ रहती है जहां तक कि वह विधायक अधिकार को बरतती है। रूसो इस बात की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में करता है :—

“विधायक अधिकार में दो अविभाज्य बातें सम्मिलित हैं : कानूनों का निर्माण करना और उनका प्रतिपालन करना, अर्थात् कार्यकारी सत्ता की देख-रेख रखना। संसार भर में ऐसा कोई राज्य नहीं है कि जहां सर्वसत्ताधारी ऐसी देख-रेख न रखता हो। यदि देख-रेख न हो तो प्रत्येक संस्था, प्रत्येक अधीनता दो सत्ताओं के बीच में पड़कर अवश्य ही असफल हो, एक; दूसरे पर निर्भर रहना छोड़ देगा; प्रशासन का कानूनों से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं रहेगा और कानून केवल एक खोखला

१. “दी सोशल कन्ट्रैक्ट”—तीसरा खण्ड, अध्याय १७।

Digitized by Arya Samaj Foundation, Chennai and eGangotri
 शब्दमात्र रह जायगा—कुछ भी सकेत न देने वाला ध्वनिमात्र रह जायगा^१ ।”

यदि नागरिकों की संस्था की कार्यपालिका पर देखरेख लगातार कम चौकस होती चली जायगी, यदि यह कार्यकारी सत्ता नागरिकों की संस्था से अधिकाधिक स्वतन्त्र होती चली जाएगी तो, रूसो के शब्दों में यह ‘सर्वप्रधान सत्ता के शिथिल होने’ की अवस्था होगी ।

आइये हम उस प्रशासन पर और अधिक सूक्ष्मता से विचार करें कि जिसके सदस्य ‘केवल कार्यार्थ अधिकार प्राप्त व्यक्तियों के अतिरिक्त सर्वथा ही और कुछ नहीं हैं, वे कर्मचारी वर्ग हैं अथवा ‘सर्वसत्ताधारी के केवलमात्र कर्मचारी’ हैं । प्रशासन (सरकार) स्वयं दण्डनायकों का एक समुच्चय है और रूसो इस बात को स्वीकार करता है कि इसके कई रूप हो सकते हैं; इनको हम संस्थापित सूत्र के अनुसार ‘प्रजातन्त्र, कुलीनतन्त्र, एकतन्त्र’ रूप में पहचान सकते हैं । इस विषय में रूसो लिखता है :

“प्रशासन के सम्भावित विविध रूपों को हम इन तीन मुख्य रूपों में परिवर्तित कर सकते हैं । उनके लाभालाभों की तुलना करके मैं उसको तरजीह दूंगा कि जो दो पराकाष्ठाओं के मध्य में स्थित है और जिसका नाम ‘कुलीन तन्त्र’ है । यह स्मरण रहे कि राज्य का संविधान तथा प्रशासन का संविधान—दो सर्वथा भिन्न वस्तुएं हैं—इन दोनों को एक दूसरे में गड़मड़ नहीं कर देना चाहिए । सर्वोत्तम प्रकार का प्रशासन ‘कुलीन तन्त्रीय’ होता है और सबसे बुरी सर्वसत्ता कुलीनतन्त्रीय होती है ।^२

यदि ‘दि सोशल कन्ट्रैक्ट’ निरी सिद्धान्त-प्रतिपादक रचना ही होती तो यहां कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं होती । बिधायक

१. “लैटर्स फ्रॉम दि माउन्टेन”—दूसरा भाग, सातवां पत्र ।

२. “लैटर्स फ्रॉम दि माउन्टेन”—१म भाग पत्र ६ ।

अधिकार नागरिकों के समस्त समुदाय का है और इस अधिकार को वह किसी और को नहीं सौंप सकता; फिर कार्यभारनियुक्त दण्डनायक नागरिकों के समुदाय से संख्या में कम हैं, फिर भी बहुसंख्यक तो हैं ही और वे कार्यकारी अधिकार वरतते हैं। और यही सारा किस्सा है।

तथापि यहां आकर हम प्रशासन के रूपों के सम्बन्ध में निरूपित रूसो की ओजस्वी सिद्धांत पर विचार करते हैं। अस्थायी रूप से इसका एक बहुत अपरिष्कृत वर्णन हम इन शब्दों में कर सकते हैं :—नागरिकों का समुदाय जितना बड़ा होता जाएगा भागग्रहण उतना ही कम वास्तविक, कम सक्रिय होता जाएगा और साथ ही प्रजाजन कम आज्ञाकारी हो जाएगा। वश्यता अथवा आज्ञाकारिता में कमी आ जाने के कारण प्रशासन को उत्पीड़न की शक्ति का अधिक प्रयोग करना पड़ेगा—और इसके साथ ही प्रशासन केन्द्रित हो जाएगा और उसको नागरिकों के समुदाय के असन्तोष का सामना करना पड़ेगा और इस प्रकार प्रशासन, एकाधिकार की दिशा में बढ़ने लगेगा; और सर्वसत्ताधारी की दृष्टि से सर्वसत्ता के हड़पने की दिशा में आगे बढ़ जाएगा। मैं पाठक से अनुरोध करता हूं कि वह इस सिद्धांत की परीक्षा इस संक्षिप्त विश्लेषण द्वारा न करे : क्योंकि अब मैं इसकी अधिक विस्तार से परीक्षा करूंगा।

रूसो की मौलिकता का मूल्यांकन करने के लिए मोटेस्क्यू को उद्धृत करना उचित है। मोटेस्क्यू लिखता है कि कोई गणतन्त्र अपना अस्तित्व केवल उसी अवस्था में बनाए रख सकता है जब कि उसका प्रदेश छोटा हो; और इसके लिए वह जो कारण बताता है वह भौगोलिक है। मोटेस्क्यू के लेख में 'दूरी' (Distance) तथा 'दूरवर्तिता' (Remoteness) शब्द मुख्य शब्द हैं : स्पष्ट है कि लेखक संचार और परिवहन के शब्दों में सोच रहा है। गणतन्त्री प्रशासन, उस अवस्था में जब कि जनता इतनी अधिक बिखरी हुई हो कि उस पर शासन लागू नहीं किया जा सकता हो, चल नहीं कर सकता। रूसो के सिद्धान्त का

आधार मान्य भावनाएँ हैं—वह इससे कितना भिन्न है। यदि नागरिक अपने उस प्रशासन के निर्णयों के लिए अपने आपको उत्तरदायी समझे कि जो उसका केवल एक सचिव ही है, तब तो नागरिक की आज्ञाकारिता कोई समस्या उपस्थित नहीं करती।

इस नैतिक स्थिति को एक परिचित उदाहरण से स्पष्ट कर देना उचित रहेगा। मान लीजिए कि मैं एक ऐच्छिक संस्था का, उसमें दृढ़ विश्वास तथा आस्था रखने वाला सदस्य हूँ और मुझे इसके कार्यपालक सचिवालय से इस बात को स्मरण दिलाने वाला एक पत्र मिलता है कि मुझे इस संस्था की एक बैठक में—जिसमें मैं भी उपस्थित था—किए गए निर्णय के अनुसार कुछ न कुछ करना है—सम्भव है कि जिस क्षण यह अनुस्मारक पत्र मुझे मिले उस समय वह मुझे अप्रिय लगे परन्तु मुझे इसके अनुसार कार्य न करना अपनी भूल प्रतीत होगी। मैंने बैठक में जितनी अधिक सक्रियता से भाग लिया है, मुझे अपने आप को उतना ही अधिक बाध्य समझना चाहिए और तदनुसार उस संस्था की मेरी सदस्यता जितनी अधिक केवल नाममात्र की होगी उतना ही अधिक मैं अपने आपको कम बाध्य समझूँगा। मैं समझता हूँ कि यही वह भावात्मक अथवा अन्तःप्रेरणात्मक (Affective) अर्थ है जिसमें 'दिसोशल कन्ट्रैक्ट' के निम्न परिच्छेद को समझना होगा—

“मान लीजिए किसी राज्य में दस हजार नागरिक हैं। सर्वप्रधानसत्ता का अस्तित्व केवल सामूहिक रूप से तथा समुदाय के रूप में ही है। परन्तु इसके प्रत्येक सदस्य को, प्रजाजन की हैसियत से, एक व्यक्ति समझा जाएगा। इस प्रकार सर्वप्रधान सत्ता और प्रजाजन में परस्पर अनुपात दस हजार अनुपात एक हुआ, अर्थात् सर्वप्रधान प्रभुत्व में प्रत्येक व्यक्ति अपना भाग केवल दस हजारवाँ भाग है—यद्यपि उसको इसके पूरे भाग का अनुपालन करना होगा। यदि जनसंख्या का परिमाण बढ़कर एक लाख हो जाय तो भी प्रजाजन की स्थिति में परिवर्तन नहीं होता है, क्योंकि प्रत्येक प्रजाजन शेषों के साथ-साथ कानूनों के साम्राज्य की अधी-

नता में दखल दे रहा है—हम उसकी अपनी ओर की ओर आबद्ध नहीं होना चाहते, जो अब एक लाखवां भाग रह गई है, उन कानूनों के निर्माण में दस गुना कम हो गया है। इसलिए, चूंकि प्रजाजन सदा ही एक व्यक्ति होता है, सर्वप्रधान सत्ताधारी का उससे जो अनुपात है वह जनसंख्या की वृद्धि की दृष्टि से सदा बढ़ जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य जितना अधिक बढ़ेगा, स्वतन्त्रता उतनी ही घट जाएगी।”

इस परिच्छेद पर विचार कीजिए। रूसो इस बात को स्वीकार करता है कि ‘कानूनों का साम्राज्य’ प्रजाजन पर दबाव डालता है। और दबाव ही, जब मैं उस दशा से विपरीत दिशा में जाना चाहता हूं जिससे कि प्रशासन दबाव डाल कर मुझे ले जाना चाहता है, तब मुझे कष्टदायक प्रतीत होता है; और यदि मेरी अपनी निर्वाधगति की वही दिशा (जो प्रशासन के दबाव की है) हो तो यह दबाव बिल्कुल भी कष्ट नहीं देगा। प्रशासन के दबाव में मैं अपनी निजी मानसिक प्रेरणा को जितनी अधिक मात्रा में मानने को तैयार रहता हूं, इसको गतिमान करने में अपना योगदान करने की उतनी ही अधिक सजीव स्मृति मेरी बनी रहेगी और मेरा योगदान जितना अधिक रहा होगा यह स्मृति उतनी ही अधिक सजीव रहेगी और यदि कहीं किसी भारी भीड़ में मैं भटक गया होऊंगा तब निश्चय यह स्मृति कम सजीव रह जाएगी। मैं जब इस तरह भटक जाता हूं तब मैं जिस दबाव को अनुभव करता हूं उसका कारण मेरी अपनी मानसिक प्रेरणा है, इस बात को अनुभव नहीं करता—उसका कारण मैं दूसरे लोगों के दबाव को ही समझता हूं।

यदि मैं उनको सूत्रबद्ध करने में कम हिस्सा ले चुका होता तो वही शासनादेश मुझे अधिक कष्टदायक लगते; और इस प्रकार प्रजाजन के रूप में मेरी सद्भावना तदनुसार ही कम हो जाती। इस अवस्था में यदि प्रशासन मुझ से अपने आदेशों का पालन करवाएगा तो बल प्रयोग

१. ‘दि सोशल कंट्रैक्ट’—खण्ड तीसरा, अध्याय १।

के अधिकाधिक साधनों की आवश्यकता होगी ।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूसो की दृष्टि में निम्नलिखित दो तर्क वाक्यों का निकट सम्बन्ध है : “राज्य जितना अधिक बढ़ता है, स्वतन्त्रता उतनी ही अधिक घटती है” और “प्रशासन यदि किसी उपयोग का होना है तो, लोगों की संख्या जितनी अधिक हो प्रशासन को उतना ही अधिक बलवान बनना होगा ।” ये दोनों वाक्य एक ही विचार की दो भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियां नहीं हैं, अपितु रूसो की तर्क प्रक्रिया की दो अवस्थाएं हैं । पहली बात तो यह है कि नागरिक, नागरिकों की अपेक्षा बड़ी भीड़ में भटक कर अपने अहं को और भागग्रहण में अपने उत्तरदायित्व को इतनी सघनता से अनुभव नहीं करता और जब प्रजाजन के रूप में उसको आदेश दिए जाते हैं तो वे उस पर भारी दबाव डालते हैं । वह अपने आपको कम स्वतन्त्र अनुभव करता है । फिर कारण कि अनुभूति के इस परिवर्तन के कारण वह प्राप्त आदेशों के प्रति कम कृपापूर्ण हो जाता है, इसलिए दमनकारी शक्ति अवश्य ही बढ़ानी पड़ती है : साथ ही, स्वतन्त्रता की उसकी अनुभूति में कमी आने का भी यही परिणाम होता है और क्षीण स्वतन्त्रता का एक सुनिश्चित घटक भी होता है ।

भाग ग्रहण की भावना के निर्बल होने के परिणामों को खोजते-खोजते रूसो को यह विचार सूझता है कि ‘दमनकारी शक्ति बढ़ानी पड़ेगी ।’ इससे प्रशासन के रूप में परिवर्तन होना आवश्यक हो जाता है ।

“प्रशासन की शक्ति का सर्वयोग सदा राज्य की शक्ति का सर्वयोग होता है—इसलिए इस शक्ति में कभी कोई अन्तर नहीं आता । इससे यह परिणाम निकलता है कि प्रशासन अपने निजी सदस्यों पर जितनी अधिक शक्ति का उपयोग करेगा—समष्टि रूप से सब लोगों पर प्रयोग करने के लिए उसके पास उतनी ही कम शक्ति बची रह जाएगी । इसलिए दण्डनायकों की संख्या जितनी अधिक होगी प्रशासन उतना ही अधिक निर्बल होगा ।”

१. “दि सोशल कन्ट्रैक्ट”—भाग तीसरा, अध्याय २ ।

रुसो को यह ज्ञात है कि "क्योंकि यह स्वयं-सिद्धि आधारभूत है, इसलिए, आइये हम इसको और अधिक स्पष्ट करें।" तो यह स्वयं-सिद्धि आधारभूत है; रुसो का यह कहना है; और यह बड़ी अद्भुत बात है कि उसके सर्वोत्तम भाष्यकारों ने इस विषय को इतना कम महत्त्व दिया है। दण्डनायकों की संख्या बढ़ा देने पर प्रशासन क्यों अधिक निर्बल हो जाता है इसका कारण यह है कि इससे प्रशासन संस्था—सरकार—के शरीर में इच्छाएं विविध हो जाती हैं और स्वयं सरकार के भीतर आन्तरिक संघर्ष जितना अधिक होता है, यह प्रजाओं पर उतनी ही कम शक्ति से प्रभावी हो सकती है।

अब देखिए, यदि मेरी यह बात ठीक है कि रुसो भावात्मक प्रकृतियों के अर्थों में सोचता है, तो रुसो के विवेचन को निम्नलिखित तरीके से रूपान्तरित किया जा सकता है : प्रजाजन, सर्वप्रधान सत्ता में अपने भाग के बहुत कम हो जाने के कारण, अपने आपको नागरिक से जितना-जितना कम पाता है, सरकार के आदेशों के पालन करने की उसकी प्रवृत्ति भी उतनी ही कम होती चली जाती है और तब सरकार को न केवल दमनकारी शक्ति की ही अपितु मनोवैज्ञानिक बल की भी अधिक मात्रा में आवश्यकता पड़ती है। सरकार के आदेश सरकार के घटक विधि तत्त्वों के मध्य हुए समझौते के जितने अधिक प्रतिफल दिखाई देंगे वे उतने ही कम बाधित करने वाले होंगे और जब प्रजाजन यह अनुभव करता है कि सरकार के भीतर की शक्तियों के सन्तुलन में थोड़ा सा भी परिवर्तन होता तो उसके आदेश कुछ और—भिन्न प्रकार के—होते तो इनके आदेशों का दबाव कम हो जाता है।

इसलिए केवल यही बात नहीं है कि प्रजाजन ज्यों-ज्यों अपने आप को अधिकाधिक कम नागरिक अनुभव करता है, त्यों-त्यों उसके हृदय में उसी आदेश के प्रति सद्भावना घटती जाती है; अपितु यह बात भी है कि जब कोई आदेश सरकार की एक अकेली स्थिर इच्छा से उत्पन्न होता प्रतीत होता है तब आज्ञा पालन को क्रियान्वित करने में उस

समय से कमजोर शक्ति प्राप्त होती है जबकि अच्छी शक्ति के अभाव में आप में विभक्त सरकार से उत्पन्न होता लगता हो। इसका अर्थ हुआ कि अधिक जनसंख्या वाले राज्य की परस्पर विभक्त सरकार को उससे अधिक दमनकारी शक्ति की आवश्यकता होगी जितनी कि वस्तुतः इसमें विद्यमान है।

रूसो के इस अध्ययन के विषय में भले ही कोई भी सम्मति क्यों न बने, इस बात से तो इन्कार नहीं हो सकता कि रूसो इस बात पर बल देता है कि जिस देश की जनसंख्या अधिक होगी उसमें प्रशासनाधिकार के केन्द्रित किये जाने की व्यावहारिक आवश्यकता होगी।

“मैं अभी यह सिद्ध कर चुका हूँ कि सरकार दण्डनायकों की संख्या-वृद्धि के अनुपात में अधिकाधिक निर्बल होती चली जाती है और इससे पहले मैंने यह सिद्ध किया है कि किसी राज्य की जनसंख्या जितनी अधिक होगी सरकार को अपनी दमनकारी शक्ति में भी उतनी ही अधिक वृद्धि करनी पड़ेगी। इससे यह परिणाम निकलता है कि सरकार की तुलना में दण्डनायकों की संख्या सर्वसत्ताधारी की तुलना में प्रजाजनों की संख्या के विलोम अनुपात में होनी चाहिए। अर्थात् राज्य जितना अधिक बड़ा हो इसकी सरकार अवश्य ही, उतनी ही अधिक केन्द्रित होनी चाहिये—जिससे जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ दण्डनायकों की संख्या घटती चली जाय।”^१

जिनकी यह धारणा हो कि रूसो केवल भावात्मक प्रभावों के प्रति विशेष जागरूक था और शक्तिशाली भावचित्रों का ही रचयिता था, उन्हें “दि सोशल कन्ट्रैक्ट के तीसरे भाग का पहला अध्याय फिर से पढ़ना चाहिये। इसको पढ़कर उसके विवेचन की दृढ़ता की बरबस प्रशंसा करनी पड़ती है अथवा लेखक जिस दृढ़ता से एक-एक युक्तियुक्त कदम क्रमशः रखता हुआ अपने निष्कर्ष की ओर अग्रसर होता है—उस दृढ़ता

१. ‘दि सोशल कन्ट्रैक्ट’—भाग ३, अध्याय २।

पर ध्यान देना ही पड़ता है। यह वह निष्कर्ष था कि जिसको रूसो ने कानून समझा था और जिसको हम आज राजनीतिविज्ञान का विधायक कानून (Positive Law) कहते हैं।”

विधायक कानून अर्थात् वह कानून कि जिसका समर्थन अनुभव-सिद्ध प्रमाण से किया जाता है; और इस बात का स्पष्टीकरण कैसे करें कि इतने प्रसिद्ध लेखक द्वारा प्रतिपादित यह कानून प्रमाण से वैध अथवा अवैध सिद्ध होता है या नहीं यह देखने के लिये कोई खोज नहीं की गई है। रूसो ने स्वयं इस कानून को बहुत अधिक महत्त्व दिया और हम इसको उसकी पुस्तक “लैटर फ़ॉर्म दि माउन्टेन” में विराजमान देखते हैं :

“सरकार के विविध रूपों का निश्चय जिस सिद्धान्त द्वारा होता है वह इस बात पर निर्भर करता है कि प्रत्येक सरकार के सदस्यों की संख्या कितनी है। सदस्यों की संख्या जितनी कम होगी सरकार उतनी अधिक शक्तिशाली होगी : संख्या जितनी अधिक होगी सरकार उतनी ही अधिक निर्बल होगी; क्योंकि सर्वप्रधान प्रभुत्व का रख सदा शिथिल होने का रहता है और सरकार का रख अपने अधिकार को बढ़ाने का रहता है। इस प्रकार कार्यपालिका को अन्त में विधायक संस्था पर सदा हावी बना रहना पड़ेगा; और जब कानून अन्त में मनुष्यों के अधीन रह जाता है तो दासों और मालिकों के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहता तथा राज्य विनष्ट हो जाता है।

इस विनाश से पहले यह आवश्यक हो जाएगा कि प्रशासन अपनी नैसर्गिक प्रगति द्वारा अपने रूप को बदल डाले और इसके सदस्यों की संख्या में क्रमशः कमी आ जाए।”

ऊपर के उद्धरण में दूसरे परिच्छेद के इन शब्दों पर ध्यान दीजिये :
“the Government *must* by its Natural Progress.”

१. ‘लैटर फ़ॉर्म दि माउन्टेन’ भाग १, पृष्ठ ६।

यहां जिस **must** शब्द को वीने इटालिक अक्षरों में लिखा है, स्पष्ट है कि वह नैतिक वाध्यता अर्थात् 'चाहिए' नहीं है; यह तो दैहिक वाध्यता 'अवश्य' है। रूसो यह नहीं कह रहा है कि "यह अच्छा है कि.....", परन्तु वह तो कह रहा है कि "यह अवश्य होकर रहेगा कि...." हमें इस बात पर अधिक गहरा ध्यान देना होगा कि जिस रचना को नैतिक 'चाहिए' के अर्थों में लिखा गया था, और जो इसी अर्थ में पढ़ी जाती है, उसी में इस वैज्ञानिक 'अवश्य' (must) शब्द को अर्थात् "आवश्यक है" को प्रस्तुत कर दिया गया है। यह बात महत्वपूर्ण है कि रूसो उसको 'जो घटित होने वाला है' उसका जिसको वह सैद्धांतिक स्तर पर 'घटित होना चाहिये', घोषित कर चुका है, इतने बलपूर्वक विलोम ही घोषित करता है। दूसरे शब्दों में नीतिशास्त्रविद् रूसो जिस वस्तु की सराहना करता है, समाजशास्त्रवेत्ता रूसो उसी के विनाश की भविष्य-वाणी करता है।

थोड़ा-सा भी विचार-विमर्श करने पर हममें से प्रत्येक को अपने-अपने विचारानुसार 'अभीष्ट' तथा 'सम्भव' में अन्तर का अवश्य पता लग सकता है। आशावाद की परिभाषा यह 'प्रतीति' अथवा 'भरोसा' किया जा सकता है कि वास्तविक संकल्प अभीष्ट को प्राप्त कर लेगा और निराशावाद की परिभाषा यह प्रतीति की जा सकती है कि वास्तविक संकल्प अभीष्ट से भटक जाएगा। रूसो में राजनीतिक निराशावाद बहुत ही स्पष्ट है। जेनेवा के नागरिकों को सम्बोधित करके कहे गये उसके निम्नलिखित शब्दों पर विचार कीजिये—इन शब्दों की संगति तो यह स्मरण करके स्पष्ट हो जाती है कि जेनेवाई गणतन्त्र की वह महा-सभा जिसमें सभी नागरिक सम्मिलित हुए थे, रूसो की सर्वप्रधान सत्ता-धारी की विचारधारा के अनुसार थी।

“सज्जनो ! आपके साथ जो घटना हुई है वही आपके प्रशासन-सरीखे प्रत्येक प्रशासन के साथ घटित होती है। पहली बात तो यह है कि

विधायक शक्ति तथा कार्यकारी शक्ति अलग-अलग नहीं हैं—इन दोनों से मिलकर सर्वप्रधान सत्ता का निर्माण हुआ है। सर्वप्रधान सत्ताधारी लोग अपने लिए कुछ चाहेंगे और वे जो कुछ चाहेंगे वही स्वयं कर डालेंगे। प्रत्येक को सबके साथ होने वाले इस संघर्ष में शीघ्र ही असुविधा अनुभव होने लगती है और इस असुविधा के कारण बाधित होकर सर्वप्रधान-सत्ताधारी लोग अपने में से कुछ सदस्यों को अपनी इच्छा को कार्यान्वित करने के लिए नियुक्त कर देते हैं। ये कर्मचारी अपने नियोग की पूर्ति के पश्चात् और नियोग का स्पष्टीकरण करने के पश्चात् सबके समान हो जाते हैं। थोड़ा-थोड़ा करके ये नियोग अधिक सतत हो जाते हैं; और अन्त में स्थायी हो जाते हैं। अस्पष्ट रूप से आयुक्त लोगों की एक ऐसी संख्या बन जाती है जो सदा सक्रिय रहती है। जो संस्था सदा सक्रिय रहेगी वह एक-एक कृत्य का स्पष्टीकरण नहीं दे सकेगी; यह केवल प्रमुख कृत्यों का ही स्पष्टीकरण देगी : और इस प्रकार शीघ्र ही वह स्थिति भी आ जाती है जबकि यह संस्था किसी कृत्य का भी स्पष्टीकरण नहीं देती। और कार्यकारी शक्ति जितनी अधिक सक्रिय होगी, यह इसको इच्छानुसार बनाने वाली शक्ति को उतनी ही अधिक निस्तेज करेगी। अतीतकाल की इच्छा के विषय में यह माना जाता है कि वह आज की इच्छा की समकक्ष थी; यद्यपि अतीतकाल का कृत्य किसी को आज कार्य करने से मुक्त नहीं करता। अन्त में इच्छा करने वाली शक्ति की निष्क्रियता स्वयं इसको कार्यकारी शक्ति के अधीन कर देती है; कार्यकारी शक्ति कार्य करने में क्रमशः अधिकाधिक स्वतन्त्र होती चली जाती है और वह शीघ्र ही अपनी मनमानी करने में भी स्वतन्त्र हो जाती है और इच्छा करने वाली शक्ति की प्रतिनिधि रूप से काम करने के स्थान पर यह इसके सिर पर सवार होकर काम करने लगती है। इस प्रकार राज्य में केवल एक ही सक्रिय शक्ति कार्यकालिका की शक्ति ही रह जाती है। कार्यकारी शक्ति तो केवल एक बल ही है और जहां एकमात्र बल का राज्य रहता है वहां राज्य भंग हो जाता है। सज्जनो ! इसी प्रकार तो

देखिए, रूसो यहां यह नहीं कहता कि 'ऐसे घटित होना सम्भव है'—अपितु वह कहता है—'ऐसा अवश्य ही घटित होगा' । हम 'the Government must, by its natural progress' शब्दों पर टिप्पणी कर आए हैं और इनमें से "must"—'आवश्यक'—शब्द पर बल दे आए हैं—इसी प्रकार हम 'स्वभाविक प्रगति' (Natural progress) शब्दों पर भी इतना ही बल प्रदान कर सकते हैं । वही विशेषण स्वभाविक, निम्नलिखित परिच्छेद में भी आया है :

जब कोई प्रशासन बहुतां के हाथ से निकलकर कम के हाथ में आता है अथवा दूसरे शब्दों में, जब यह प्रजातन्त्र से परिवर्तित होकर कुलीन-तन्त्र बनाता है और फिर एक कदम और हटकर ताजतन्त्र बन जाता है तो यह सिकुड़ जाता है । यह इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है । यदि प्रगति विपरीत दिशा में होती और प्रशासन छोटे से बड़ा हो जाता तो प्रशासन शिथिल हो रहा है—यह कहा जाता । परन्तु ऐसी विपरीत प्रक्रिया असम्भव है ।

"वस्तुतः तो प्रशासन का रूप, जब तक कि इसके आधार-स्प्रिंग इतने अधिक न घिस जायं कि अपने रूप को बनाए न रख सकें, कभी नहीं बदलता । क्योंकि यदि कोई प्रशासन अपने साम्राज्य का विस्तार करता हुआ अपनी तीक्ष्णता को कम कर देगा तो इसकी शक्ति नकारा हो जाएगी और यह अपने आपको सुरक्षित करने में कम समर्थ हो जाएगा । इसलिए प्रशासन के लिए यह आवश्यक है कि विस्तृत होते समय यह अपने आधार-स्प्रिंग को कसे और उसे अधिक सशक्त बनाए, अन्यथा जिस राज्य को यह प्रशासन थाम्मे हुए है वह नष्ट हो जाएगा ।"

रूसो की प्रशासन के रूपों के विकास की 'वैज्ञानिक' कल्पना ऐसी ही है ।

१. 'लेटर्स फ्रॉम दि माउन्टेन'—भाग दूसरा, पत्र ७ ।

२. "दि सोशल कन्ट्रैक्ट"—भाग तीन, अध्याय १० ।

वर्क

(जे० एम० कैमरों)

वर्क की रचना 'रिपब्लिकनिस ऑन दि रिवोल्यूशन इन फ्रांस' (फ्रांस की राज्य क्रांति पर विचार-विमर्श) के दो रूप हैं। या तो हम इसको फ्रांसीसी राज्यक्रांति पर एक अशिष्ट तथा अनुचित आक्रमण कह सकते हैं; उक्त राज्यक्रांति के विषय में अंग्रेजों का रुख निश्चित करने में इस आक्रमण का बहुत व्यापक प्रभाव रहा था। अथवा फिर हम इस ग्रन्थ को, कभी के समाप्त हो चुके राजनीतिक विवाद में योगदान तो नहीं, अपितु वर्क का एक ऐसा लेखांश ही समझ सकते हैं कि जिसमें राजनीतिक जीवन के सम्बन्ध में वर्क के अत्यन्त विशिष्ट विचारों का समावेश है— और ये विचार यहां उसने उस अर्थ-समृद्ध तथा प्रभावशाली भव्य शैली में व्यक्त किये हैं कि जिसका वह पंडित था। इस लेख में वर्क की रचना को मुख्यतया दूसरे पिछले ढंग की भान कर ही उस पर विचार करूंगा।

इस पुस्तक का पांच शिलिंग मूल्य का पहला संस्करण कागज के आवरण में नम्बर सन् १७९० में प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तिका का लेखन—यदि इतनी लंबी रचना को पुस्तिका कहा जा सकता हो तो—एक वर्ष पूर्व—जबकि राज्यक्रांति अभी केवल कुछ महीनों की ही थी, शुरू हो गया था। वर्क को यह लिखने के लिए जिसने बाध्य किया था, वह, उस समय के प्रसिद्ध विमत (विरुद्ध सम्मति रखने वाले) मंत्री डा० प्राइस का वह प्रवचन था जो उसने ४ नवम्बर को 'प्रिंस ऑफ़ औरेंज—विलियम तृतीय—के १६८८ में इंग्लैंड में अवतरित होने की घटना के उपलक्ष्य में मनाये गये वार्षिक समारोह के अवसर पर दिया था; विलियम तृतीय के अवतरित होने की घटना, इंग्लैंड की व्हिग पार्टी (उदार दल) के शब्दों में 'शानदार राज्यक्रांति' की प्रथम मंजिल की प्रतीक थी। प्राइस का कहना यह था कि फ्रांसीसी राज्यक्रांति १६८८ के मूल सिद्धान्तों की शानदार प्रगति का परिणाम थी और इसके साथ ही इसमें मनुष्य जाति के

इतिहास में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आलेखों के अभाव में यह कथन १६८८ की राज्यक्रांति की भ्रष्ट व्याख्या और फ्रांसीसी राज्यक्रांति को प्रति निष्ठ बनाने की कोशिश अनुभव किया; साथ ही वर्क फ्रांसीसी राज्यक्रांति को फ्रांस के लिए घातक तथा दूसरे राष्ट्रों के लिए बुरा उदाहरण समझता था।

परन्तु यह देखते हुए तो कि जब वर्क ने लिखना समाप्त किया था तब राज्यक्रांति अभी एक वर्ष से अधिक की नहीं थी और यह देखते हुए कि राजा-रानी का क़त्ल, सितम्बर का जनसंहार, अतंक राज्य की स्थापना, वे शानदार सैनिक कार्रवाइयाँ कि जिनके कारण क्रांतिकारी सेनाएं फ्रांस की सीमा से बहुत दूर आगे तक पहुंच गई थीं—आदि क्रांति की खूनी तथा भयंकर घटनाएं तो अभी भविष्य के गर्भ में ही निहित थी; वर्क द्वारा की गई क्रांति तथा इसके नेताओं की निन्दा अतिशयोक्ति ही प्रतीत होती है।

फिर जिन सामाजिक तथ्यों से, कम से कम अंशतः तो क्रांति का औचित्य सिद्ध होता था—वर्क पर उनका कोई असर हुआ नहीं प्रतीत होता; जो कुलीन लोग अपने विशेषाधिकारों को बनाए हुए थे और अपने कर्तव्यों से सर्वथा विमुख हो चुके थे उन कुलीन लोगों द्वारा शोषित देहाती आबादी की इतनी अधिक कष्टदायक गरीबी; वह रीति कि जिससे परिश्रमी मध्यवर्ग अनुचित रूप से भारी कष्टों को सहन किए हुए था और अंशतः राज्य के उत्तरदायित्व के पदों से बहिष्कृत था; तथा एक-एक करके स्थापित हुए प्रशासनों की अनुपयुक्त तथा मूर्खता भरी नीतियाँ—आदि सामाजिक तथ्यों का उस पर कोई प्रभाव पड़ा नहीं दिखाई देता। वर्क ने इन सभी बातों की उपेक्षा की है। उस समय 'रिपलैक्शन्स' के प्रत्युत्तर में सबसे अधिक उपयुक्त 'दि राइट्स ऑव मैन' नाम की रचना में प्रयुक्त टॉम पेन के प्रसिद्ध शब्दों में वर्क 'पंखों पर तो आंसू बहाता है परन्तु मरणसन्न पक्षी को भूल जाता है'।

तो भी यह मान लेना तो भूल ही होगी कि क्रांति पर की टीका-

टिप्पणी में के रूप में, अर्थात् उसके विश्लेषण के रूप में बर्क की यह पुस्तक सभी प्रकार से बुरी तरह असफल रही ।

एक उदाहरण लीजिए—बर्क ने इस बात को बड़ी स्पष्टता से समझ लिया था कि परम्परागत संस्थाओं तथा जीवन-पद्धतियों की तोड़फोड़ करती-करती बहुत गहरा प्रभाव करने वाली कोई भी क्रांति हो, उसका रख यह रहता है कि सत्ता केन्द्रित हो जाय तथा वह उत्तरदायित्व से रहित हो जाए । वह लिखता है :

“यदि ‘गणतन्त्र’ स्थापित करने की वर्तमान योजना असफल रह गई तो इसके साथ ही औसत दर्जे की स्वतन्त्रता की सभी गारंटियां भी असफल हो जाएंगी । निरंकुशवाद को हलका करने वाली सभी अप्रत्यक्ष एकावटें दूर हो चुकी हैं; यहां तक कि यदि, फ्रांस में इस अथवा किसी दूसरे राजवंश के अधीन फिर कभी कोई एकतन्त्र शासन सवंशा शक्तिशाली बना तो सम्भवतः, यदि इसको राजकुमार की बुद्धिमत्तापूर्ण तथा शुभ सलाहों से आरम्भ में स्वेच्छा से मृदु न बनाया गया तो यह एक ऐसी अत्यन्त निरंकुश सत्ता होगी कि जैसी आज तक पृथ्वी पर कभी नहीं दिखाई दी होगी ।”

बर्क के इस कथन को नैपोलियन का—और इस दृष्टि से तो स्तालिन का भी, एक अच्छा-खासा पूर्वानुमान गिना जा सकता है । तो भी, बर्क अपनी इस ‘रिफ्लेक्शन्स’ पुस्तक में क्रांति की वास्तविक गहराई और उसके ऐतिहासिक महत्व का मूल्यांकन नहीं कर सका है । १७६१ के अन्त में जब उसने ‘थॉट्स ऑन फ्रेंच अफ़ेयर्स’ लिखी, उससे पहले तक वह यह बात नहीं समझ पाया था कि एक यूरोपीय घटना के रूप में फ्रांसीसी ‘राज्यक्रांति’ की तुलना केवल ‘रिफॉर्मेशन’ (Reformation) ईसाई धर्मान्दोलन-से ही की जा सकती है ।

अब मैं यह बताना चाहता हूं कि ‘रिफ्लेक्शन्स’ में ऐसी कौन सी बातें हैं जो स्थायी रूप से रोचक तथा लाभदायक प्रतीत होती हैं । इस सम्बन्ध में ऐसी कोई बात लिखना तो कठिन होगा कि जो आमक

न हो। एक प्रकार से तो 'रिफ्लैक्शन्स' में बर्क के राजनीतिक तत्त्वज्ञान का, वस्तुतः तो उसके सम्पूर्ण जीवन-दर्शन का सार-तत्त्व विद्यमान है; और इसलिए थोड़े से स्थान में उसको सुष्ठुतया संक्षिप्त कर सकना असम्भव है। बर्क की दृष्टि में, प्रशासन की व्यवस्थाएं, जहां कहीं स्थापित हैं और इतनी देर से संस्थापित चली आ रही हैं कि उनका इतिहास तक भी बन गया है, वे रहस्यमयी और दैवाधीन—दोनों ही हैं। वे रहस्यमयी इस रूप में हैं कि जिस प्रकार हम किसी यन्त्र के पुर्जों की व्यवस्था को अथवा कुछ थोड़े से गिने-चुने स्पष्टतया परिभाषित लक्ष्यों वाली किसी संस्था के नियमों को उचित नहीं कर सकते। उसी प्रकार इन व्यवस्थाओं को विचार से उचित सिद्ध नहीं कर सकते। राज्य संस्था किसी यन्त्र अथवा व्यावसायिक साभेदारी के समान इतनी नहीं है जितनी कि वह एक जटिल जीवपिण्ड के समान है। किन्हीं स्पष्टतया प्रतिपाद्यलक्ष्यों को दृष्टि में रख कर इसका आविष्कार या निर्माण नहीं किया गया है। इसकी जड़ें तो सहजबुद्धि और अनुभूति की मिट्टी में गहरी गड़ी हुई हैं। इसका एक इतिहास है जिसकी केवल अत्यन्त आकर्षण और प्रायः गम्भीर घटनाओं को ही हम समझ पाते हैं।

बड़े-बड़े राज्यों की राजनीतिक संस्थाओं की स्थिरता में कुछ विशेष आकर्षण रहता है। बर्क पूछता है कि क्या ये संस्थाएं, यदि मनुष्यजाति की किन्हीं आवश्यकताओं और प्रयोजनों की पूर्ति न भी करतीं तो भी, क्या उन रूपों में स्थिर बनी रह सकती थीं कि परिवर्तनों के बावजूद जिनमें किसी भी सीमा तक उनकी एकरूपता बनी रहती? उसका उत्तर है कि यदि ऐसा हो तो वे स्थिर नहीं रह सकती थीं; और 'चिर भोग' ही, अर्थात् वे स्थिर रही आई हैं कोरा यह तथ्य ही, उनका अतिजीविता का अधिकार है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, अमरीकी राज्यक्रांति की वकालत करने वाले बर्क ने, 'रिफ्लैक्शन्स' के लेखक अत्यन्त अनुदार बर्क तक ने भी, यह विचार नहीं बनाया था कि सभी प्रकार का राजनीतिक परिवर्तन एक भूल होती है।

परन्तु वह फ्रांस में योजनानुसार घटित आमूलचूल परिवर्तनों में— जिन्हें उसने मूर्खतापूर्ण तथा अपवित्र समझा और इंग्लैंड के इतिहास में हुए सतर्क तथा धीरे-धीरे हुए परिवर्तनों में भेद करना चाहता था । (इंग्लैंड के आधुनिक इतिहास में हुए वस्तुतः महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन—ट्यूडर शासकों के शासन काल में हुआ 'धर्मसुधार आन्दोलन', प्रोटेस्टेंट सम्प्रदायियों का विद्रोह, ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल और उत्तरी-अमरीका में हुई राज्यक्रान्ति—वस्तुतः सतर्क एवं धीरे-धीरे हुए परिवर्तन हैं या नहीं यह एक दूसरा और रोचक प्रश्न है ।)

मैं कह चुका हूँ कि वर्क फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति-सरीखे राजनीतिक परिवर्तन को अपवित्र मानता था । इस बात से उस ढंग पर प्रकाश पड़ता है कि जिस ढंग से वर्क ने परम्परागत तथा चिरकालीन प्रकार की राजनीतिक अवस्थाओं को 'दैवी' (Providential) समझा था । वर्क की रचनाओं को पढ़ते हुए हमें सदा यह बात मन में रखनी चाहिए । वर्क के मन में कुछ ऐसी धार्मिक पूर्वकल्पनाएं विद्यमान थीं कि जिनको उसने बाइबल से, पादरियों से और पण्डितारू धर्माचार्यों से ग्रहण किया था । उसकी धारणा यह थी कि ऋतुएं मनुष्य को भूमि से उपलब्ध फलों पर निर्वाह करने में समर्थ बना देती हैं और यह व्यवस्था परमेश्वर की कृपा का एक अंश होती है वैसे ही राज्य की संस्थाएं—नगर, परिवार आदि ईश्वरीय व्यवस्था की अंश हैं—इनको मानव के शारीरिक तथा नैतिक (आध्यात्मिक) कल्याण के लिए बनाया गया है । 'रिफ्लैक्शन्स' के अत्यन्त प्रसिद्ध परिच्छेद में वर्क ने राज्य, प्रकृति-संसार तथा परमेश्वर के आपसी सम्बन्ध का वर्णन किया है । वह लिखता है :

"यह (अर्थात् राज्य संस्था) विज्ञानमात्र में भागीदारी है; कलामात्र में भागीदारी है; प्रत्येक सद्गुण तथा सिद्धि में भागीदारी है.....यह भागीदारी केवलमात्र जीवित व्यक्तियों की भागीदारी नहीं है अपितु अब जीवितों की अतीतकाल में मृत रूहों की और उनकी भी जो अभी जन्म लेंगे, भागीदारी है । प्रत्येक पृथक्-पृथक् राज्य का प्रत्येक करार, अनादि

समाज के लिए करार के बिना आया ही है, जेवना कि प्रकृतियों को निकृष्ट प्रकृतियों से, दृश्य संसार को अदृश्य संसार से, सभी भौतिक तथा नैतिक प्रकृतियों को उनके अपने-अपने निश्चित स्थान पर थाम रखने वाले अलंघ्य वचन द्वारा अनुमोदित एक स्थिर करार के अनुसार जोड़ता है।”

वर्क की वर्णन शैली ही ऐसी है कि हम उसकी आलंकारिक भाषा के प्रवाह में सरलता से बह जाते हैं और इस प्रकार, सम्भवतः, हम ऐसे परिच्छेद द्वारा स्पष्टतया संकेतित अर्थ को ग्रहण न कर सकें। और यह तो निश्चित रूप से स्पष्ट ही है कि जब वर्क “सभी भौतिक तथा नैतिक प्रकृतियों में से प्रत्येक को अपने-अपने निश्चित स्थान पर थाम रखने वाले “अलंघ्य वचन” की बात कहता है तो उसका संकेत ‘जेनसिस’ (इंजील का प्रथम अध्याय) में आई सृष्टि रचना-कथा के ‘परमेश्वर’ वचन’ की ओर, और सेंट जोन की गॉस्पल के प्रथम अध्याय के ‘वचन’ ‘जिसने सभी वस्तुओं को बनाया था’—की ओर —‘शब्द ब्रह्म’, की ओर, है।

यहां बल देकर यह बताना महत्वपूर्ण रहेगा कि वर्क एक ईसाई दार्शनिक है, क्योंकि राजनीतिक दर्शनशास्त्र के अनेक इतिहास-ग्रन्थों में वर्क का सम्बन्ध राजनीतिक युक्ति शून्यता से बताया गया है और कुछ लोगों ने वर्क को विकास की उस परम्परा तक का माना है कि जिसका घुणित चरम परिणाम रक्त तथा भूमि के राष्ट्रीय समाजवादी सिद्धान्त के रूप में तथा इटली के फासिस्टों के लुच्छ हैगली तत्त्वदर्शन के रूप में होता है। मैं समझता हूं वर्क को ऐसा समझना उसके स्पष्ट अभिप्राय को न समझना है। इतिहास को उलटे ढंग से पढ़ने की बुरी आदत का यह परिणाम है।

वर्क के युग में जो धार्मिक दृष्टि से अयुक्त सूत्रीकरण प्रचलित था, उसको दूर हटा कर यदि वर्क को उसकी अधिकतम गहाराई में तथा उस की अत्युच्च स्थिति में देखा जाय तो वह अवश्य ही एक आध्यात्मिक

व्यक्ति सिद्ध होता है। उसका संसार अर्थात् 'अनादिशाश्वत समाज प्रत्येक मनुष्य को ज्ञानप्रदान करने वाले 'शब्द'—'लोगास' (शब्द ब्रह्म) द्वारा प्रबोधित तथा 'अवतार' (The Incarnation) द्वारा पुनः—उद्धृत संसार है। धर्म-निरपेक्ष इतिहास के विवेचनों को सही समझने का उसका जो विनम्र परन्तु असन्दिग्ध रुख है उसका मूल कारण यह प्रबोधित संसार ही है। निरासन्देहवाद अथवा मूढ़ पुरातत्त्ववादिता उसके मूलकारण नहीं हैं। यदि कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि वह इंग्लैंड के राज्य के उस पवित्र स्वरूप का मानता है जो पवित्र स्वरूप वस्तुतः तो 'चर्च' का ही होना उचित है तो, इसका कारण यह है कि वह राज्य को 'परमेश्वर की कृपा' का निर्वाध क्षेत्र समझता है अथवा इसका कारण यह है कि उसकी दृष्टि में चर्च तथा राज्य, दोनों ही जैसे कि हूकर की दृष्टि में थे, एक ही वस्तु के दो पहलू हैं।

समाज के करार के सम्बन्ध में जो परिच्छेद मैंने अभी उद्धृत किया है, उसके ठीक पश्चात् ही बर्क इस सम्भावना पर विचार करने लगता है कि मनुष्य दैवी विधान की आज्ञाकारिता को ऐच्छिक मानकर, सम्भवतः उसकी उपेक्षा करने लगे। निस्सन्देह, कार्य भले ही वह उचित अथवा अनुचित कुछ भी क्यों न हो, सदा ऐच्छिक तो होगा ही। इस कथन से उसका तात्पर्य यह है कि किसी नैतिक विधान को अपनी इच्छानुसार समर्थित करने के लिए मनुष्य उसकी अनिवार्यता पर विचार कर सकते हैं।

"...परन्तु जो कृत्य अनिवार्यता के प्रति केवलमात्र अर्पण ही है अर्थात् जिसका किया जाना अनिवार्य है उसको चुनाव का विषय बना दिए जाने पर कानून टूट जाता है; प्रकृति की आज्ञा को भंग कर दिया जाता है और जो विद्रोही हैं उनको कानून के लाभ से वंचित कर दिया जाता है, उनका त्याग कर दिया जाता है और उनको विवेक, व्यवस्था, शांति, सद्गुण तथा फलोत्पादक प्रायश्चित के संसार से देश निकाला देकर अविवेक, मनमुटाव, दुर्गुण, अव्यवस्था और अकारथ सन्ताप के

इस परिच्छेद में से यदि मुहावरे को छोड़ दें तो इसको सेंट ऑगस्टिन की 'सिटी ऑव गाड' ('परमेश्वर का नगर') पुस्तक से लिया गया समझा जा सकता है। सेंट ऑगस्टिन को यह बात बहुत प्रिय है कि विद्रोह के परिणामों द्वारा व्यवस्था का बड़ी कठोरता से समर्थन किया जाए। और बर्क दो संसारों में जो अन्तर बताता है वही अंतर भाग्यवान् प्रभु के नगर तथा शैतान के साम्राज्य में भी विद्यमान है। इस बात पर ध्यान दीजिए कि इस संसार को—इस सम्यता को समर्थनीय बनाने वाली वस्तु का नाम 'फलोत्पादक प्रायश्चित्त है'; यदि 'फलोत्पादक प्रायश्चित्त का अस्तित्व न हो तो 'विवेक तथा व्यवस्था' 'शांति तथा सद्गुण' का भी अस्तित्व नहीं हो सकता था। और इस बात पर भी ध्यान दीजिए कि "अविवेक के विरोधी संसार" के विशेष लक्षणों की सूची में 'फलोत्पादक प्रायश्चित्त' की तुलना में 'अकारथ सन्ताप' है। यही नरक है। नारकीय आत्माओं के इस संसार में 'अकारथ सन्ताप' को मानवीय स्थिति का एकमात्र चिह्न चुनकर बर्क ने अपने आपको आध्यात्मिक दृष्टि से दान्ते के समकक्ष बना लिया है।

समाज के करार का 'आदि समाज के महान् मूल करार' के साथ सम्बन्ध जोड़ने से आरम्भ करके प्रभु के साम्राज्य तथा शैतान के साम्राज्य में भेद-निर्देश करने तक का यह सारा परिच्छेद अंग्रेज लेखकों के ऐसे लेखांशों की परम्परा में अन्तिम परिच्छेद है।

प्रथम, तो हूकर की पुस्तक 'एक्क्लीजियास्टिकल पॉलिटी' ('धर्म सापेक्ष राजनीति') के प्रथम खंड के तीसरे अध्याय में एक परिच्छेद है। इस परिच्छेद में हूकर इस विचार को चुटकियों में उड़ाता है कि 'प्रकृति अपनी कार्यप्रणाली को अवरुद्ध कर सकती है अर्थात् वह यह कल्पना करता है, और इसको वह असम्भव समझता है कि यदि परमेश्वर व्यापार

निवृत्त हो जाय तथा संसार को अस्तव्यस्त अवस्था में छोड़ दे तो क्या होगा । पहले पहल तो उसकी यह कल्पना किसी उपदेशक की उस चाल सरीखी ही चाल प्रतीत होती है कि जिससे वह ऐसी व्यापार निवृत्ति के भयंकर परिणामों का चित्र खींचकर लोगों के मनमें यह बात बिठाता है कि 'सारा संसार ही इस बात पर टिका हुआ है कि संसार में इतना भावावेश प्रकृति के विधान का पालन करें ।' परन्तु इस परिच्छेद में इतना भावावेश विद्यमान है कि मुझे विश्वास है कि इस परिच्छेद में इससे कुछ अधिक ही होगा । मुझे विश्वास है कि उसका यह भावावेश इस कारण है कि उसने अपने आपको उस क्रांतिकारी युग के दबाव में घिरा हुआ अनुभव किया कि जिस युग में मानव विद्रोह इतना प्रचंड होता है कि दैवी व्यवस्था का पतन एक लगभग वास्तविक सम्भावना ही मानी जाने लगती है; अथवा कम से कम निष्ठा की महत्वपूर्ण परीक्षा का संयोग उपस्थित हो जाता है । इम प्रकार हम हूकर का वर्क से सतत सम्बन्ध जोड़ सकते हैं : दोनों का विषय तथा प्रसंग, दोनों एक ही हैं ।

पोप रचित 'ऐसे ऑन मैन' ('मनुष्य पर निबंध') में भी एक ऐसा ही परिच्छेद (पत्र प्रथम, २४७-२५६ पंक्तियाँ) आया है; परन्तु वह कुछ-कुछ नाटकीय है और वर्क तथा हूकर दोनों के परिच्छेद बहुत निकृष्ट हैं । और मैंने केवल परम्परा दिखाने के लिए इसका यह उल्लेख किया है । परन्तु इस पद्धति का सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिच्छेद 'यूलिसीस' का वह भाषण है जो शेक्सपीयर के 'ट्रौयूलस एंड क्रैसिडा' नाटक के प्रथम अंक के तीसरे दृश्य में दिया गया है । इस भाषण का विषय है 'सोपानवत् क्रमबद्धता'—अर्थात् वह व्यवस्था जो ब्रह्माण्ड के स्तर से लेकर नैतिक तथा राजनीतिक तक के प्रत्येक स्तर पर अभिव्यक्त है । और इस परिच्छेद में भी, हूकर तथा वर्क की भांति ही व्यवस्था-त्याग के परिणामों की परिकल्पना की गई है । भाषण के इस परिच्छेद का सारांश इस प्रकार है—

“समाजों, विद्यालयों की कक्षाएँ, नगरों में संचालित सहयोगी मार्ग-

चारे पृथक्पृथक् सट्चरिषीं अवेर्षीं मों सांतिपूर्वकं अचसितं क्यप्रसारिक
 आदान-प्रदान, जन्म में निहित ज्येष्ठता तथा उसके दायित्व, आयु के,
 राजाओं के राजसत्ता के प्रतीक दण्डों के और जय-पत्रों के, आधार पर
 विशेषाधिकार—ये सब केवलमात्र सोपानवत् क्रमबद्धता (व्यवस्था) के
 कारण ही अपने-अपने स्थान पर टिके हुए हैं; इनका महत्व तभी तक है
 जब तक कि ये आरोह-अवरोह की एक नियत व्यवस्था के अधीन हैं।
 इनका वह व्यवस्थित क्रम निकाल लीजिए और फिर देखिए कि कैसी
 कर्कश ध्वनि, कितना वेसुरापन अर्थात् आपस में कितना मतभेद खड़ा हो
 जाएगा; इनके घटकों में आपस में कहीं मेल होगा तो केवलमात्र आपसी
 प्रतिरोध में ही होगा : मर्यादित समुद्रजलराशि तक भी तटों से ऊपर
 उठकर पृथ्वीमात्र को विलीन कर लेगी। मूर्खता तथा दुर्बलता पर बल-
 वत्ता का आधिपत्य जम जाएगा : यहां तक कि घृष्ट पुत्र अपने बाप को
 भी मार डालेगा : जिसकी लाठी उसकी भैंस का हाल हो जाएगा, बल-
 वान् का कथन ही माना जाएगा अथवा यों कहिए, उचित, अनुचित तथा
 म्याय तक का भी नाम नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाएगी कि
 प्रत्येक बात का आधार सत्ता बन जाएगी—सत्ता संकल्प में और संकल्प
 प्रवल लालसा अथवा प्रचेष्टा में परिणत हो जाएंगे—संकल्प वह प्रचेष्टा
 अथवा भूखा भेड़िया बन जाएगा जो संकल्प तथा सत्ता दोनों से दुहरी
 पुष्टि लेकर बलात् सभी कुछ हड़प कर जाएगा और अन्त में अपने आपको
 ही खा डालेगा।

इस परिच्छेद पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। देखिए, नैतिक
 अव्यवस्था का कितना असाधारण चित्र 'पिता की हत्या' है। "असंयत
 पुत्र अपने पिता पर कातिलाना हमला कर देगा।" हमारे इस युग में,
 जबकि पितृशासित नमूना कम स्पष्ट हो गया है, सम्भव है कि हम इस
 वर्णन से अभिप्रेत आतंक की बेढंगे चित्र को न समझ सकें। फिर
 अव्यवस्था के संसार पर आपत्ति इस कारण नहीं है कि यह नैतिक दृष्टि
 से 'असत्' है; नैतिक दृष्टि से असत् तो व्यवस्था का संसार भी हो

सकता है। अव्यवस्था का संसार इस कारण बुरा है कि यह पागल और आत्मघाती संसार है (और वर्क का 'पागलपन का प्रतिस्पर्धी संसार' याद आ जाता है) जिसमें 'निर्वलता पर बल का राज्य होगा'—हिटलर और स्टालिन भी तो अपने अन्तिम दिनों में यही कुछ ही तो थे ? और उचित अनुचित अपने नाम खो बैठेंगे" ।

अर्थात् जहां दैवी विधान के अधिकार को, प्रभुत्व को नहीं माना जाता (और यह बात कानून के आदेश की अवहेलनामात्र से सर्वथा भिन्न है) वहां नैतिक विशिष्टताओं का कोई अर्थ नहीं रहता; और हम उस नरक में जा पड़ते हैं जिसका चित्र शेक्सपीयर ने उस 'सार्वभौम भेड़िये' के रूप में खींचा है कि जो अन्त में अपने आपको भी हड़प करके अपना नाश स्वयं कर लेता है। सचमुच ही, यह 'अकारण सन्ताप' का संसार है; और, यदि जैसा कि मैंने सुझाव दिया था कि इस बात में वर्क का वर्णन आध्यात्मिक दृष्टि से दांते के वर्णन के बराबर ही सही है तो शेक्सपीयर का वर्णन आध्यात्मिक दृष्टि से उतना ही सही और कवित्व-शक्ति में दांते के वर्णन के समकक्ष—दोनों—है।

वर्क की रचना में आए इस परिच्छेद-विशेष की वंशावली के संबंध में और भी कुछ अधिक कहा जा सकता है। परन्तु मैं समझता हूं कि यह सिद्ध करने के लिए मैंने बहुत कुछ कह दिया है कि वर्क की शक्ति के हमारे मूल्यांकन में और उसके अभिप्राय को समझने की हमारी शक्ति में तब और भी अधिक वृद्धि हो सकती है जब कि हमें यह पता हो कि उसकी इन अत्यन्त पैनी अन्तर्दृष्टियों का मूल कारण उसका पुनः चिंतन तथा जिस प्रथा अथवा परम्परा में हुकर तथा शेक्सपीयर दोनों का पालन-पोषण हुआ था उसी परम्परा का अपनी पीढ़ी में, अपने जीवन में अनु-पालन, था; अर्थात् ईसाई धर्मशास्त्र और विशेषतया इसका वह रूप जिसका प्रतिपादन ऑगस्टिन तथा ऐक्वाइनस ने किया था और उनके धर्मतत्व का तथा वर्क के संसार-चित्र का मुख्य तथा मूल स्रोत बाइबल का होना।

तथा [सिद्धि] (वर्क) को राजनीतिक अजिबोबिजाबाद का भाष्यक के ग्रामने में कुछ सत्याभास—दिखावा—तो है ही। वर्क ने राजनीतिक जीवन के मूल घटकों के रूप में अनुभूति तथा सहजबुद्धि को बहुत महत्व दिया था और उसने राजनीति में तर्कबुद्धिवाद को हानिकारक सिद्ध किया था। मैं इस विषय में अपने अभीष्ट विचार का सर्वोत्तम स्पष्टीकरण, वर्क तथा उसके प्रसिद्ध विरोधी टॉम पेन में परस्पर मतभेद दिखला कर कर सकता हूँ। पेन की रचना से लिए गए निम्नलिखित उद्धरण पर विचार कीजिए:—

“अमरीका तथा फ्रांस की राज्य क्रांतियों से संसार में क्या कुछ नई बात हुई है—वस्तुओं की नैतिक क्रम व्यवस्था का नवीकरण हो गया है, सच्चाई तथा मानव अस्तित्व, जितने सार्वभौम तत्वों की व्यवस्था स्थापित हो गई है और नैतिक प्रसन्नता का राजनीतिक प्रसन्नता तथा राष्ट्रीय समृद्धि से गठजोड़ हो गया है।...इन लेखों में प्रतिपादित सिद्धांतों में [पेन का संकेत यहां ‘मनुष्य के अधिकारों की घोषणा’ (Declaration of the Rights of Man) तथा १७८९ के ‘सिटिजन’ (नागरिक) के तीन लेखों की ओर है।] ऐसी कोई बात नहीं है कि जिसका सहारा लेकर भड़काने वाले महत्वाकांक्षी व्यक्ति किसी राष्ट्र को अस्त-व्यस्त कर दें।...राजतन्त्री सर्वप्रधान प्रभुसत्ता को, जो कि मानव जाति की शत्रु है तथा विपत्ति का कारण है—रद्द कर दिया गया है; सर्वप्रधान प्रभुसत्ता को ही उसके नैसर्गिक तथा मूल स्थान—राष्ट्र—में पुनः स्थापित कर दिया गया है। यदि यूरोप भर में सर्वत्र ही ऐसा हो जाता तो युद्धों का कारण ही जाता रहता।”

इस उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि टॉम पेन के दृष्टिकोण के अनुसार तो राजनीति की समस्या मूलतः, एक सरल समस्या ही है। राजतन्त्री प्रभुसत्ता के स्थान पर जनता की प्रभुसत्ता को स्थापित कर

१. थॉमस पेन-रचित “राइट्स ऑफ मैन” (मनुष्य के अधिकार), हार्डपैटिया ब्रैडलर वौनर (नाट्स) द्वारा सम्पादित, १९५४, पृष्ठ ११४, ११५।

दीजिए, 'स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, सुरक्षा तथा उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष' के 'प्राकृतिक' अधिकारों को मान्य ठहरा दीजिए, अपने समाज की व्यवस्था ऐसी बना दीजिए कि जिसमें प्रत्येक मनुष्य का हित हो, तो, युद्ध बन्द हो जाएंगे और हम सब समृद्ध तथा सुखी हो जाएंगे। बर्क की सम्मति में यह बात इतनी सीधी-सादी थी कि सच नहीं हो सकती थी—(और उनकी यह बात निश्चित रूप से ठीक ही थी) और उसकी सम्मति में इस बात से प्रकट होता है कि इसको सोचने वाला मन कितना अधिक उथला है। 'प्राकृतिक अधिकारों' की सूची बना लेना और उनके विषय में कोई मौखिक समझौता कर लेना तो सरल है। परन्तु किसी जटिल समाज में अधिकार, सूक्ष्म बैठ-विठाव तथा नियोजन के विषय बन जाते हैं। बर्क लिखता है :—

“मनुष्य के आवेगों तथा उसके हितस्वार्थों के समस्त तथा जटिल पुञ्ज में मनुष्य के मूल अधिकार इतने अधिक आड़े-तिरछे तथा विभिन्न दिशाओं में परावर्तित हो जाते हैं कि उनके विषय में यह कहना कि वे अपनी मूल दिशा में ही सीधे-सादे ढंग से चले आ रहे हैं—असंगत होगा। मनुष्य की प्रकृति जटिल है; इसलिए न तो मनुष्य की प्रकृति के लिए अथवा न उसके कार्य-व्यापार के स्वरूप के लिए ही, सत्ता का कोई सरल वितरण अथवा उसका कोई सरल निदेशन उपयुक्त हो सकता है।...इन सभी सिद्धांतकारों ने जिनको अधिकार कह कर प्रदर्शित किया है—वे सभी चरम मान हैं, और वे अतिलौकिक दृष्टि से जितने सच हैं, नैतिक तथा राजनीतिक दृष्टिकोण से उतने ही मिथ्या हैं। मनुष्यों के अधिकार एक प्रकार की मध्यस्थिति में हैं, जिसकी कोई परिभाषा तो नहीं की जा सकती, परन्तु उन्हें प्रत्यक्ष कर लेना असम्भव नहीं है।”

बर्क कुछ-कुछ ऐसा अनुभव करता रहा कि वे दार्शनिक कि जिनके सिद्धान्त 'फ्रांसीसी राज्य क्रांति के समर्थक हैं, कुछ ऐसे लोग हैं कि जो उसके शब्दों में “कुछ विरक्त से तथा अस्पष्ट शब्द वाले मनुष्य” हैं। मैं समझता हूँ कि जहाँ तक उनके हृदयों का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो वह

सामान्यता की मर और आ (कान्तिवादियों) के बुद्धिवादी में और उनके आचरण में जो कुछ भ्रष्टता थी—उसके विषय में उदार भावना और किसी प्रकार की सहानुभूति का अभाव, 'रिफ्लैक्शन्स' पुस्तक का अत्यन्त दुःखदायक पहलू है) —परन्तु उनके बोध को जो उसने 'मलिन' अथवा स्पष्ट बताया है, मैं समझता हूँ, वह बात बिल्कुल ठीक है। इसका कारण केवल यही नहीं है कि हमें पीछे से यह स्वीकार करना पड़ा कि पेन का यह विचार कि राजतन्त्र के विनाश से तथा प्रभुसत्ता को राष्ट्र में निहित कर देने से ही युद्धों का अन्त हो जाएगा—निरा मूर्खतापूर्ण है।

'रिफ्लैक्शन्स' में बर्क ने जिस प्रकार के राजनीतिक तर्क बुद्धिवाद पर आक्षेप किए हैं वह मर चुका है और यह सम्भावना नहीं है कि वह पुनः जीवित होगा ही। तो फिर क्या इस कथन का यह अभिप्राय है कि बर्क को जो कुछ कहना था उसका महत्व केवल मात्र ऐतिहासिक ही है और उसको हमारे इस युग के लिए कुछ भी कहना नहीं है। मेरा यह विचार नहीं है। राजनीतिक तर्क बुद्धिवाद आज भी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। उदाहरण के लिए यह एक आम मान्यता है (और यह शिक्षितजनों को विशेषरूप से आकर्षक लगती है) कि सामाजिक बुराइयाँ और सामाजिक संघर्ष ऐसे विषय हैं कि उन पर समाज व्यवस्था के विशेषज्ञ ही विचार कर सकते हैं; यह मान्यता है कि समाज एक जटिल मशीन है; निश्चय ही यह एक जटिल यन्त्र तो है परन्तु इसके आधार-भूत हिस्से तो बहुत सरल हैं—उन हिस्सों के आपसी सम्बन्धों के शब्दों में इस यन्त्र को समझ लेना बहुत सरल है। ऐसे सीधे-सादे तथा भयानक तर्कबुद्धिवाद के भीतर खिसक जाना, अंशतः तर्कहीनता के प्रचलित रूपों को देखकर उभरी उचित विभीषिकाओं के कारण अवश्य सरल है। (तर्कहीनता के जो उदाहरण मेरे ध्यान में हैं वे इस प्रकार की मान्यताएं हैं कि मनुष्य की सहज रंगत का कोई गुप्त अर्थ है अथवा यह मान्यता कि संसार में होने वाली अधिकांश घटनाओं का कारण पूँजीपतियों,

यहूदियों, महाजनों आदि के गुप्त षड्यन्त्र हैं) इस विषय में वर्क का कथन बहुत ही महत्वपूर्ण है और ठीक इसी कारण कि हम वर्क के युग में हुए संघर्षों से बाहर हैं, हम 'रिफ्लैक्शन्स ऑन दि रिवोल्यूशन इन फ्रांस' को पढ़कर यह बता सकते हैं कि वर्क की विचारधारा में से कितना विचार अभी तक जीवित है और कितना मर चुका है ।

हेगल

(एफ़. सी. कोप्लेस्टन, एस० जे०)

यदि हम इस विचारधारा से विचार करना आरम्भ करें और इस विचारधारा को विशेष महत्व प्रदान करें कि व्यक्तिशः सभी मनुष्य अलग-अलग स्वतन्त्ररूप से अपने-अपने साध्य अथवा हितसाधन की पूर्ति में दत्तचित्त हैं, तो हमें राजनीतिक संगठन अथवा राज्य संस्था कुछ-कुछ ऐसी प्रतीत होगी कि जो इन व्यक्तियों के अतिशय विरुद्ध होगी और उनकी स्वतन्त्रता में बाधक होगी। इस राजनीतिक संगठन का औचित्य इन तथ्यों से सिद्ध होगा कि यह संगठन ऐसी घटनाएं तथा अवस्थाएं उपस्थित कर देता है तथा उनको बनाए रखता है कि उनमें प्रत्येक नागरिक अपने साथियों से सम्भावित सभी प्रकार के उत्पीड़न से निःशंक रहकर अपने हितसाधन में लगा रह सकता है और यह संगठन इस स्थिति में होता है कि किसी दूसरे संगठन अथवा दूसरे समाज द्वारा सम्भावित बाह्य आक्रमण से सभी नागरिकों की सम्मिलित रूप से रक्षा करे।

इस प्रकार राज्यसंस्था को परस्पर विरोधी हितों की पारस्परिक संगति के लिए और लोक समाज की प्रतिरक्षा के लिए एक आवश्यक उपकरण समझा जाता है। परन्तु ठीक इसी कारण कि इसको उन निजी हितों का साधक उपकरण माना जाता है जिन्हें सर्वोच्च समझा जाता है, यह व्यक्ति की दृष्टि में ऐसी वस्तु दिखाई देती है कि जो बाह्य तथा अपरिचित हो। और जब इस दृष्टिकोण को चरम सीमा तक पहुंचा दिया जाता है तब तो यह हर्बर्टस्पेन्सर के 'दि मैन वर्सस दि स्टेट' (मनुष्य बनाम राज्य) शीर्षक निबन्ध में निरूपित दृष्टिकोण-सा लगने लगता है।

हेगल के विचार में, निजी सम्पत्ति और निजी हितों के संरक्षण के उपकरण के रूप में राज्य की विचारधारा एक खूबी और अनुपयुक्त

विचारधारा है। यह केवल मिथ्या ही नहीं है। क्योंकि यह राज्य के एक वास्तविक पहलू का, उस पहलू का कि जिसको हेगल नागरिक अथवा मध्यवर्गी (बुर्जवा) समाज नाम से पुकारता है, निरूपण करती है। परन्तु यह विचारधारा इस दृष्टि से अनुपयुक्त है कि इसमें इस तथ्य पर विचार नहीं किया गया है कि मनुष्य अपनी सम्भाव्य अव्यक्त क्षमता को व्यावहारिक रूप, अपने से बड़ी समष्टि के जीवन का सहभागी बन कर ही, प्रदान कर सकता है। और यह उनसे बड़ी समष्टि, प्लेटो तथा अरस्तू की भांति, हेगल की दृष्टि में भी राजनीतिक संगठन अथवा राज्य-संस्था ही है।

हम इस विषय पर इस ढंग से सोच सकते हैं। हेगल द्वारा प्रयुक्त शब्दावली के अनुसार तो संकुचित अर्थों में नैतिकता का सम्बन्ध केवल-मात्र नैतिक जीवन के भीतरी पहलू से है, उस स्वायत्त युक्ति-युक्त संकल्प से ही है कि जिसको यह बोध है कि मैं ही क्रियामात्र का मूल स्रोत हूँ। निस्सन्देह यह कहना ठीक होगा कि व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपना आचरण अपने युक्ति-युक्त संकल्प के आदेशों के अनुसार बनाए। परन्तु संकीर्ण अर्थों वाली नैतिकता से इन आदेशों की ठोस पूर्ति नहीं होती। हमारे कर्तव्य-विशेष क्या हैं, यह नैतिकता, हमें इसका कोई उत्तर नहीं देती। हेगल ने जिस वस्तु को कांट के नीतिशास्त्र का शिष्टाचार समझा था उसको लांघ कर आगे चलने के लिए, 'कर्तव्य कर्तव्य के लिए' की अमूर्त विचारधारा को लांघने के लिए, हमें ठोस नैतिक जीवन की सामाजिक नीतिविज्ञान की परिधि में आना पड़ेगा। किसी व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्देश उसके सामाजिक सम्बन्धों द्वारा, समाज में उसकी स्थिति तथा उसके कार्यों से होता है। (बाद में एफ० एच० ब्रेडले की 'एथिकल स्टडीज' के 'माई स्टेशन एण्ड इट्स ड्यूटीज'—'मेरी स्थिति तथा इसके अनुसार मेरे कर्तव्य'—शीर्षक अध्याय में यही दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है।) इसलिए मनुष्य की नैतिक प्रकृति की अभिव्यक्ति और उसकी सफलता सामाजिक जीवन के माध्यम से ही सम्भव है। और इससे यह

निष्कर्ष सिद्ध होता है कि समाज कोई ऐसी वस्तु नहीं हो सकती कि जो व्यक्ति से निरी अपरिचित हो और उसके अतिशय विरुद्ध हो।

फिर राज्यसंस्था ही समाज का एकमात्र रूप नहीं है। समाज का बुनियादी और मूलरूप परिवार है। और निस्सन्देह, परिवार राज्य में परिरक्षित रहता है। परन्तु हेगल की दृष्टि में, राज्य, मनुष्य के साहस से निर्मित सर्वोपरि वस्तुनिष्ठ संस्था है। और राज्य की धारणा अथवा उसके आदर्श अस्तित्व में ही उसको परिवार की धारणा के आवश्यक मूल-तत्वों का और अपने अभिहित नागरिक अथवा मध्यवर्गी समाज के मूल-तत्वों का उच्चस्तरीय सम्मिलन दिखाई देता है। परिवार की धारणा अथवा इसके आदर्श अस्तित्व के अनुसार, यद्यपि सदा अनुभवाश्रित तथ्य के रूप में तो नहीं, परिवार एक वह समष्टि है जो पारस्परिक अनुराग की भावना में गुंथकर एक बनी हुई है।

और एकता का यह मूलतत्त्व 'सामान्य इच्छा' का रूप धारण कर राज्य में फिर प्रकट होता है—रूसो ने इसी सामान्य इच्छा की चर्चा की थी। परन्तु पारिवारिक तथा राष्ट्रीय एकताओं में एक दूसरे से बहुत अन्तर है। निस्सन्देह, परिवार के अपने पृथक्-पृथक् सदस्य होते हैं। परन्तु, उदाहरणार्थ, बच्चों का अस्तित्व तो, जीवन में अपने-अपने हित-साधन में व्यस्त पृथक् व्यक्तियों के रूप में न होकर ठीक-ठीक सदस्यों के रूप में ही है। तथापि यदि हम यह कल्पना कर लें कि विविध परिवारों के बच्चे बड़े हुए, आत्मनिर्भर बने, अपने विभिन्न हितों की साधना में व्यस्त रहे और फिर प्रत्येक की तथा सबकी स्वतन्त्रता की रक्षार्थ एक वैध संरचना की स्थापना में एक दूसरे का हाथ बंटाने लगे—तो हमारी कल्पना ही आंशिकरूप में वह धारणा होगी जिसका नाम हेगल नागरिक समाज रखता है। समय की दृष्टि से यह संगठन राज्य से पूर्व विद्यमान नहीं होता। वस्तुतः ऐसा होना संभव ही नहीं है, क्योंकि हेगल ने 'राज्य' शीर्षक के अन्तर्गत प्रशासन का विचार किया है, नागरिक समाज शीर्षक के अन्तर्गत नहीं किया है।

परन्तु नागरिक समाज राज्य-संस्था का एक आवश्यक अंग है । अधिकतर तो यह राज्य का एक आर्थिक पहलू है । क्योंकि हेगल ने आर्थिक निगमों अथवा संस्थाओं का विचार 'नागरिक समाज' शीर्षक के अन्तर्गत किया है । परन्तु यद्यपि नागरिक समाज की धारणा को इसी रूप में समझ लेने पर तो उसमें राज्य के आवश्यक तत्व का अर्थात् व्यक्तियों के निजी स्वार्थों से अधिक श्रेष्ठ लक्ष्यों से प्रेरित 'सामान्य इच्छा' का समावेश नहीं होता, तो भी, नागरिक समाज राज्य का एक आवश्यक पहलू तो है ही । और वस्तुतः इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य की परिपक्वावस्था आने पर, वयस्क राज्य निजी (व्यक्तिगत) स्वतन्त्रता तथा निर्णय के (अधिकार) मूलतत्त्व को अपने आप में सम्मिलित कर लेगा और ऐसी स्वतन्त्रता तथा निर्णयाधिकार की भावना को अभिव्यक्त करेगा ही ।

राज्य की संकल्पना के भीतर एकता का मूलतत्त्व भी आ जाता है— परिवार इस एकता का प्रतीक है । परन्तु राज्य की संकल्पना में एकता का मूलतत्त्व इस रीति से समाविष्ट किया जाता है कि नागरिक समाज की संकल्पना द्वारा निरूपित विभेद तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता से उसका कोई विरोध नहीं होता । निस्सन्देह, इससे यह परिणाम नहीं निकाल लेना चाहिये कि सभी वास्तविक राज्य, राज्य के आदर्श सार-तत्त्व के उदाहरण बन जाते हैं । परन्तु जहां तक राज्य की संकल्पना का सम्बन्ध है, यह संकल्पना 'विभेद में-एकता' की संकल्पना है, 'अभेदित एकता' की संकल्पना नहीं है ।

इस विचार-बिन्दु को हेगल के इतिहास-तत्त्वदर्शन के एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है । हेगल की सम्मति में इतिहास, स्वतन्त्रता की प्रगति की एक कहानी ही है । प्राच्य निरंकुश शासनों के अन्तर्गत केवल एक व्यक्ति, अर्थात् निरंकुश शासक ही स्वतन्त्र होता था । फिर यूनान तथा रोमन साम्राज्य आये; इन चिरप्रतिष्ठित राज्यों में केवल कुछ ही—अर्थात् दास नहीं, स्वतन्त्र व्यक्ति ही—स्वतन्त्र होते थे । हेगल ने

जिस सिद्धांत का नाम व्यक्तिपरकता स्वीकारा था, अर्थात् व्यक्तिवाद, मनुष्य की स्वतन्त्र तथा उसके मूल्य की मान्यता के सिद्धान्त को ईसाई धर्म ने प्रस्तुत किया था और हेगल का इस बात पर आग्रह है कि वयस्क राज्य स्वतन्त्रता की परिरक्षा करता है, वह इसको रद्द नहीं करता है।

अब देखिए, हेगल चाहता था कि अपने युग के जर्मन युवकों को राजनीतिक आत्म-बोध की शिक्षा दे। वह उनको यह दिखाना चाहता था कि राज्य न तो कोई ऐसी वस्तु है कि जो व्यक्ति के अत्यन्त विरुद्ध हो और न वह ऐसी ही कोई वस्तु है कि व्यक्तियों को शांति से अपने-अपने वैयक्तिक स्वार्थ साधन में समर्थ बनाने का उपकरण बने। वह यह भी चाहता था युवकों में वह प्रवृत्ति न रहे कि जो उसके शब्दों में विशुद्ध 'अन्तर्मुखीपन' की प्रोटेस्टेंट धर्मावलम्बियों की प्रवृत्ति थी—इस प्रयोजन से उसने यह सिद्ध किया कि हमारे कर्तव्यों का निर्णय हमारे सामाजिक सम्बन्धों से होता है, और यह सिद्ध किया कि मनुष्य में जो कुछ सम्भाव्य प्रसुप्त क्षमता है वह उसको राजनीतिक जीवपिंड—संस्था के जीवन में भाग लेने से ही उपलब्ध होती है। परन्तु यह सिद्ध करने के लिए कि व्यक्ति तथा राज्य में परस्पर प्रतिपक्षी होने की जो धारणा है वह मिथ्या है, हेगल ने रूसो की भांति यह दलील पेश की कि व्यक्ति की वास्तविक 'इच्छा' और 'सामान्य इच्छा' दोनों एक ही हैं। इसलिए अपनी इच्छा-विशेष को 'सामान्य इच्छा' से संयुक्त कर लेना और राज्य के स्वार्थ अथवा हितों को अपने निजी हित समझ लेना ही सचमुच में स्वतन्त्र होना है। क्योंकि 'सामान्य इच्छा' के आदेश का पालन करना ही 'वस्तुतः' स्वयं अपने-अपने वास्तविक आदेश का, 'स्व' के आदेश का पालन है; इस प्रकार मनुष्य वही कुछ कर रहा होता है, जो वह 'वस्तुतः' करना चाहता है। और इस दृष्टिकोण को सर्वसत्तात्मक अर्थों में लेकर उसका दुरुपयोग किया जाना सरल होता है। क्योंकि व्यवहार में 'सामान्य इच्छा'—शासक वर्ग अथवा प्रशासन की सरकार की इच्छा बन जाती है।

परन्तु ठीक इसी कारण कि कुछ लेखकों की प्रवृत्ति हेगल का अर्थ

बीसवीं सदी की कतिपय राजनीतिक घटनाओं के प्रकाश में लगान की रही है, यह और भी अधिक आवश्यक हो जाता है कि हम यह स्मरण रखें कि हेगल का यह आग्रह रहा था कि वयस्क राज्यसंस्था पृथक्-पृथक् व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का आदर वहीं तक करती है कि जहां तक राजनीतिक समाज अथवा संस्था के सांभे उद्देश्यों अथवा लक्ष्यों की प्राप्ति से इसका मेल रहता है। निभ्रान्तता के लिए यह आवश्यक है कि 'वास्तविक इच्छा' तथा 'सच्ची' स्वतन्त्रता की विचारधाराओं की ध्यान से परख की जाय। परन्तु इससे इस तथ्य में कोई परिवर्तन नहीं होता कि हेगल का दृष्टिकोण यह नहीं है कि व्यक्ति राजनीतिक जीव पिण्ड में—राजनीतिक समाज में इतना घिर जाता है कि मानो कुछ भी वचा नहीं रहता हो। राज्य एक ऐसी वस्तु है कि जो 'विभेद में एकता' है।

हेगल पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि उसने एक विशेष प्रकार के विधान को अर्थात् वैधानिक राजतन्त्र को आदर्श अथवा अत्यंत युक्तियुक्त संविधान उपपादन करने का साहस किया और इस दृष्टि से उसने अपने युग के प्रशियाई राज्य को, वस्तुतः, प्रामाणिकता प्रदान की। परन्तु उसमें ऐतिहासिक सूक्ष्मता का इतना अभाव नहीं था कि वह यह सुझाव देता कि जनता की प्रथा-पद्धतियों का ध्यान रखे बिना ही किसी अमुक प्रकार के संविधान को स्वीकार कर लेना अलाभदायक रहेगा—उस द्वारा ऐसे किसी संविधान को थोप देने को लाभदायक बताया जाने की तो उससे और भी कम आशा थी।

हेगल की दृष्टि में किसी राष्ट्र के इतिहास की इकाइयां राष्ट्र की अपनी राष्ट्रीय भावनाएं होती हैं—राष्ट्र का इतिहास इन्हीं से बनता है; प्रत्येक भावना की अभिव्यक्ति राष्ट्र की अपनी निजी संस्कृति और अपनी संस्थाओं के माध्यम से होती है। फिर उसका आग्रह यह है कि यह तो ठीक है कि हम एक प्रकार के संविधान को किसी दूसरे प्रकार के संविधान से अधिक युक्तियुक्त समझते हों, परन्तु इस तथ्य से यह अनुमान करना वैध नहीं कहला सकता कि अधिक युक्तियुक्त संविधान को सभी

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
 देशों के लोग स्वीकार कर लें। “किसी राष्ट्र की स्थाई भावना और उसके इतिहास द्वारा ही...संविधान बनते हैं और बनाये गये हैं।” परन्तु हम यह कह सकते हैं कि यदि किसी संविधान से, व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उस अवस्था में समादर जबकि इसका प्रयोग समाज के सांभे कल्याण के विरुद्ध न हो—आदि कतिपय मूल तत्वों की प्रतिष्ठा नहीं होती तो वह ऋटिपूर्ण कहलायेगा।

परन्तु समस्या तो यह खड़ी हो जाती है कि राज्य की धारणा, उसका आदर्श अस्तित्व ही, क्या है। “दि फिलॉसॉफी ऑफ राइट” पुस्तक की भूमिका में हेगल ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि दार्शनिक का यह काम नहीं है कि वह ‘यूटोपिया’ (एक काल्पनिक द्वीप जहां की सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था अपने आप में सम्पूर्ण है) के अर्थ में किसी आदर्श राज्य का चित्रात्मक वर्णन करके राजनीतिक नेताओं का निर्देशन करे जिससे वे राजमर्मज्ञ तथा राजनीतिज्ञ उसको सच करके दिखाने की कोशिश करें। एक बात तो यह है कि, राजनीतिक प्रकल्पना शुरू ही तब होती है जबकि कोई संस्कृति परिपक्व हो जाय और दूसरी के लिए गुंजाइश निकालने को तय्यार हो। “जब कोई तत्वदर्शन पुराना पड़ने लगता है तो उसके अनुसार कल्पित जीवन-व्यवस्था भी पुरानी लगने लगती है”^१ और राजनीतिक दर्शन-विज्ञान किसी समाज की आत्म-सजग परिपक्वता का स्थानापन्न होता है। इसलिए दार्शनिक का काम तो ‘स्वप्नलोकी’ योजनाएं बनाना नहीं, अतीत को समझना ही है। दूसरी बात यह है कि दूसरे सभी मनुष्यों की भांति दार्शनिक भी अपने काल का पुत्र होता है। और जांच करने पर स्वप्नलोक अथवा आदर्श राज्य, सामाजिक जीवन के उन रूपों के विषय में दी गई धर्म व्यवस्थाएं निकलती हैं जिनका विध्वंस होने ही वाला है। इस प्रकार प्लेटो की ‘रिपब्लिक’

१. ‘एनसाइक्लोपीडिया’—खण्ड एस. ४०

२. ‘फिलॉसॉफी ऑफ राइट’—भूमिका।

यह दृष्टिकोण तो स्पष्ट ही यह सिद्ध करता है कि हेगल ने एक प्रकार के संविधान को आदर्श मानने का जो स्पष्ट अनुमान किया है उसको अधिक महत्व देना भूल होगी । परन्तु इतनी ही स्पष्ट यह बात है कि यदि राजनीतिक दार्शनिक की चिन्ता का मुख्य विषय अतीत का अर्थ लगाना ही है तो फिर प्रश्न यह उठता है कि विविध राजनीतिक समाजों में अभिव्यक्त, प्रवर्तित आदर्शों की वह व्याख्या और उनकी आपस में तुलना कर सकता है या नहीं । क्या उसके लिए यह उचित है कि वह राज्य की धारणा की, उसके आदर्श अस्तित्व की, बात करे ?

हेगल के राजनीतिक सिद्धान्त का सम्बन्ध विश्व के सम्बन्ध में उसके सामान्य दृष्टिकोण से जोड़े बिना इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता । हेगल की दृष्टि में वास्तविकता एक युक्तियुक्त प्रक्रिया है, एक आदर्श लक्ष्य अथवा उद्देश्य की ओर गमन है । अनन्त 'सत्ता' अथवा 'विवेक' का जीवन ही, प्रकृति के रूप में, और मनुष्य के मन में विद्यमान तथा उसके माध्यम में उपलब्ध आत्मबोध के लक्ष्य के प्रति तार्किक गति रूप मानव इतिहास के रूप में अपने आपको सच करके वास्तविक बना कर दिखाना है । इसलिए इतिहास, अपने शेष सभी घटनापेक्ष पहलुओं के होते हुए भी, एक युक्तियुक्त प्रक्रिया है । और दर्शन विज्ञान, जो हेगल की दृष्टि में स्वयं 'निरपेक्ष सत्ता' का ज्ञान ही है, इतिहास के युक्तियुक्त नमूने को प्रत्यक्ष देख सकता है और दिखा सकता है । यही बात राज्य पर लागू होगी । क्योंकि इतिहास उन राष्ट्रीय भावनाओं का इतिहास है जो अपनी अभिव्यक्ति राज्य की वस्तुनिष्ठ संस्था में कर पाती हैं । दूसरे शब्दों में, दार्शनिक को भले ही भविष्य के दर्शन की शक्ति प्राप्त न हो और वह अपने आपको इतिहास से बाहर किसी स्थान पर रख सका हो तो भी वह कम से कम इतना तो प्रत्यक्ष कर ही सकता है कि राज-

१. वही ।

नैतिक संस्था में 'विवेक' की कैसे क्रमशः अभिव्यक्ति होती है, वह राज्य के इस तात्त्विक स्वरूप को समझ सकता है कि राज्य काल पाकर कैसे क्रमशः अभिव्यक्त होता है ।

एक और भी महत्वपूर्ण रीति से हेगल के राजनीतिक सिद्धान्त का उसके अध्यात्म ज्ञान से सम्बन्ध सिद्ध किया जा सकता है । उसकी सम्मति के अनुसार ससीम का अस्तित्व असीम में है और असीम के माध्यम से ही है । धार्मिक भाषा में कहें तो यों कहेंगे कि हम परमेश्वर में ही अपना जीवन विताते हैं, उसी में गति करते हैं और उसी में अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं । साथ ही निरपेक्ष सत्ता, असीम सत्ता, भी ससीम में और ससीम के माध्यम से अपना अस्तित्व बनाए रखती है । यह सच है कि ससीम सत्ताएं नष्ट हो जाती हैं और असीम सत्ता नष्ट नहीं होती । इसका जीवन शाश्वत बना रहता है । तो भी यह जीवन ससीम से सर्वथा पृथक् तथा उसकी अतिशय विरोधी कोई वस्तु नहीं है ।

इसी प्रकार राज्य, जो कि इतिहास में असीम की एक अभिव्यक्ति है — उसका अपना निजी शाश्वत जीवन है । राज्य को किसी क्षण विशेष में जीवित नागरिकों का एक निर्दिष्ट गुट्ट नहीं माना जा सकता । साथ ही राज्य का अपने सदस्यों से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं होता ; इसका अस्तित्व उनमें तथा उसके माध्यम से ही है । और हम इससे ये दोनों निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राज्य वह विभेद में एकता है कि जिसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आदर करना चाहिये और दूसरा निष्कर्ष यह निकाल सकते हैं कि इसके सदस्य सचमुच के सदस्य तभी कहला सकते हैं जबकि वे राज्य के जीवन तथा उसके लक्ष्य में राज्य के सहभागी हों ।

यह भी स्मरण रखना उचित है कि हेगल के दृष्टिकोण के सामान्य अर्थ में राजनीतिक सक्रियता ही मनुष्य के लिए अर्वाजित तथा निर्बाध सर्वोच्च सक्रियता नहीं है, क्योंकि हेगल ने तथाकथित 'अहं-बोध', 'वयं-बोध', की दिशा में प्रगति पर जो इतना बल दिया है । यद्यपि है तो यह पूर्वानुमान ही, परन्तु प्रतीत यह होता है कि जिस स्तर की सर्वोच्च अभि-

व्यक्तिशास्त्र है। इस अस्तुति का भावना के स्तर से भी कहा 'निरपेक्ष भावना' का स्तर अवश्य है जिसमें कला, धर्म और दर्शन विज्ञान के वे सब विविध मार्ग सम्मिलित हैं जिन मार्गों से मानव आत्मा 'निरपेक्ष सत्ता' को समझ पाती है। साथ ही 'विद्यमान' व्यक्ति के नाम पर हेगल की इस विचारधारा के विरुद्ध प्रदर्शित काइयर्केंगेयर का विरोध भी सरलता से समझ में आ जाता है कि मनुष्य अपनी वास्तविक प्रकृति को उतना ही सच करके दिखला सकता है जितना कि वह किसी बृहत्तर जैव पिण्ड के जीवन में लाभ लेने की अपनी सूक्ष्म दृष्टि को अथवा अपनी इस विषमता को छोड़कर उससे ऊपर उठ जाता है। काइयर्केंगेयर का रुख तो निस्सन्देह यह था कि वह हेगल का मजाक बनाए, परन्तु उसको एक बात सिद्ध करनी थी।

हेगल के राजनीतिक सिद्धांत का वह स्वरूप तो अच्छा प्रतीत नहीं होता कि जिस रीति से उसने राज्यों के संघ के माध्यम से सतत शांति के कांट-प्रतिपादित आदर्श का निषेध करके युद्ध की प्रतिष्ठा अपने शब्दों में राष्ट्रों के नैतिक स्वास्थ्य की परीक्षा का साधन मानते हुए, बढ़ाई है। जैसा कि हम पहले बतला आए हैं, उसकी दृष्टि में इतिहास, राज्यों में अभिव्यक्त राष्ट्रीय भावनाओं की विसंगतियों की समीक्षा तथा उनका समाधान है। और जिस मार्ग से यह समाधान, मानो आगे बढ़ता है, वह मार्ग युद्ध ही है। युद्ध के माध्यम से जराजीर्ण तथा क्षीयमाण को नष्ट कर दिया जाता है और जो तत्व अधिक बलशाली होते हैं वे अपने अधिकारों पर जमे रहते हैं। यह बात 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' जितनी तो नहीं है। हेगल इतना मानवद्वेषी नहीं है। हां, वह बात अवश्य है कि वह इतिहास को एक युक्तियुक्त उद्देश्यपरक प्रक्रिया समझता है और इसी कारण वह आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वास्तविक को उचित ठहराता है। तो भी इतनी बात तो युक्तियुक्त ठहराई जा सकती है कि हेगल के अपने दर्शन-विज्ञान के अनुसार, इतिहास का उद्देश्य एक विश्व-जनीन राजनीतिक संस्था को स्वीकार किया जाना चाहिए। क्योंकि

परन्तु दार्शनिक ने स्वयं तो सतत शक्ति को सतत निष्क्रियता के बराबर ही माना था।

यह तथ्य इस तथ्य का सुभाव है कि शायद हेगल ने अपने इस वक्तव्य का उदाहरण दिया हो कि प्रत्येक मनुष्य अपने युग का पुत्र होता है और इस वक्तव्य का उदाहरण दिया हो कि दर्शनविज्ञान अपने समसामयिक संसार से अधिक उत्कृष्ट नहीं हो सकता। वह स्वायत्त राष्ट्रीय राज्य की विचारधारा से सम्मोहित हो गया था। और वह उस स्थिति को तो प्रायः समझ ही नहीं सका जिसमें हमें स्वायत्त राष्ट्रीय राज्य से परे राजनीतिक एकता के और अधिक व्यापक रूप को देखने के लिए बाधित होना पड़ता है। निस्सन्देह यह तो कहा ही जा सकता है कि हेगल सम्भवतः हमारी वर्तमान परिस्थिति का मूल्यांकन नहीं कर सका होगा। क्योंकि उसने इस परिस्थिति में जीवनयापन नहीं किया था। परन्तु ठीक यही तो दलील है—अर्थात् यह कि हेगल कई बातों में अपने समय की प्रचलित भावना का शिकार था। यह बात नहीं है कि यह कोई अद्भुत बात है। जो राजनीतिक दर्शनविज्ञान राजनीतिक समाज के किसी भी रूप पर प्रयुक्त हो सकने योग्य व्यापक मूलतत्त्वों को लांघ जाता है, अर्थात् जिसकी प्रकल्पनाएं राजनीतिक समाज के मूलतत्त्वों से मेल नहीं खातीं, उसको ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक किया ही जाना चाहिए।

मार्क्स

(एलैसडेयर मैकइंटायर)

मार्क्स की विचारधारा इतनी अधिक जटिल है कि, इस तथ्य के होते हुए भी कि एंगेल्स के पश्चात् आगे तो मार्क्स को एक अकेली संगत पद्धति के प्रवर्तक के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है इसका संक्षिप्त सार नहीं दिया जा सकता। सच्चाई यह है कि अपने जीवन की विभिन्न अवधियों में मार्क्स ने सर्वथा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों और दवावों के वशीभूत होकर लिखा और मार्क्स का सच्चा वर्णन तो वही कहला सकता है कि जिसमें एकता तथा विविधता दोनों को बनाये रखा जा सके।

मैं मार्क्स की विचारधारा के इतिहास के तीन युग बनाने की कोशिश करूंगा। पहला युग वह है कि जिसमें मार्क्स ने अपने सभी बुनियादी प्रतिपाद्य विषयों को प्रगट कर दिया था; यह अवधि १८४६ तक पूरी हो गई। दूसरी अवधि के केन्द्र १८४८-४९ क्रांति के वर्ष हैं। तीसरी अवधि १८४९ के पश्चात् लन्दन में बिताए देश निकाले के वर्ष हैं। इस अवधि की दो विशेषताएं ये हैं कि इसने अपनी परिपक्व आर्थिक रचनाएं इसी अवधि में कीं और प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ (मार्क्सवादी संघ) की स्थापना की। प्रथम अवधि के प्रमुख ग्रन्थों के नाम, 'इकोनॉमिक-फ़िलॉसॉफ़िकल मैनुस्क्रिप्ट्स' (आर्थिक-दार्शनिक हस्तलेख) तथा 'जर्मन आइडियोलॉजी' (जर्मन आदर्शवाद) हैं। दूसरी अवधि के प्रमुख ग्रन्थ 'कम्यूनिस्ट मैनिफ़ेस्टो' (साम्यवादी घोषणा पत्र) और 'एड्डेस टू दि कम्यूनिस्ट लीग' (साम्यवादी संघ में अभिभाषण) है। तीसरी अवधि के प्रमुख ग्रन्थों के नाम 'इनऑर्ग्युरल एड्डेस टू दि इण्टरनेशनल वर्किंगमेन्स एसोसिएशन' (अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी सभा में उद्घाटन भाषण) तथा 'कैपिटल' (पूंजी) का प्रथम भाग हैं।

मार्क्स की मौलिकता का कारण उसकी वह भारी क्षमता थी जो उसने—अपने पूर्ववर्तियों की सभी कृतियों को क्रमबद्ध करके अपने मस्तिष्क

Digitized by eGangotri
 में स्थापित करने में तथा उनके सभी विचारों को मिलाकर उनसे नए अनाशंसित विचार बनाने में—प्रदर्शित की। हेगल के कनिष्ठ तथा अधिक आमूलचूल परिवर्तनवादी अनुयायियों ने (मार्क्स की गणना पहले इन्हीं में थी) ने समझा कि मिथ्या विश्वासों के विरुद्ध बौद्धिक संघर्ष तथा प्रशासनिक, विशेषतया प्रशियाई, संवाद-नियंत्रण तथा अत्याचार के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष का नाम ही स्वतन्त्रता तथा युक्तियुक्तता की अभिवृद्धि है। एक उदारनीति वाले समाचारपत्र 'रिनिख जीटुंग' (Rheinische Zeitung) के सम्पादक के रूप में मार्क्स ने न केवल संवाद-नियंत्रण की शक्ति को ही अनुभव किया था अपितु उसका ध्यान औद्योगिक, भूस्वामी और किसान—सरीखे सामाजिक समुदायों के मध्य हुए संघर्षों की ओर तथा इन संघर्षों के जनक आर्थिक विवादास्पद विषयों की ओर लगातार खिंचता रहा। उसने क्रैस्ने तथा एडम स्मिथ से लेकर और रिकार्डों तक की कृतियों से सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक अर्थनीति का गहन अध्ययन किया और इस गहन अध्ययन को पहले के हेगलियन वाद से संयुक्त कर दिया—इस संयोग का परिणाम, राजनीतिक अर्थनीति का तथा इससे चित्रित पूंजीवादी व्यवस्था का—दोनों का समालोचनात्मक ग्रन्थ हुआ।

हेगल के दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास मानव प्रबोध के उन परिवर्तनों की माला थी जो परिवर्तन तार्किक दृष्टि से अन्तःसम्बद्ध हैं तथा परिवर्तित होते-होते अन्त में हेगल का अपना निजी दर्शनविज्ञान बन जाते हैं—तथा इस प्रक्रिया में मनुष्य अपने आपसे तथा एक दूसरे से ही विरक्त हो गए थे। विरक्तता की इस अनुभूति का एक अंश वह मिथ्या प्रतिबोध है कि जिसके द्वारा मनुष्य उन धारणाओं को बनाते हैं जो वस्तुतः मानवीय निर्णय तथा मानव प्रयोजन की उन अकर्तृक शक्तियों का परिणाम होती हैं जिनका कि उन पर शासन है। इस विरक्तता को जीत लेना ही स्वतन्त्रता है। हेगल की दृष्टि में, दर्शन-विज्ञान की यही उपलब्धि अथवा सफलता है।

मार्क्स की दृष्टि में, मनुष्यों की मिथ्या बोध के प्रति यह गुलामी

पण्य वस्तुओं के उत्पादन तथा विनिमय के संचालक नियम एक सीमा तक उस प्रक्रिया का सही विवरण है कि जिस प्रक्रिया में श्रम स्वयं एक पण्य वस्तु बन जाता है और जिसमें श्रमिक उस संचित पूंजी को उत्पन्न करता है कि जिसमें श्रमिक का कोई हिस्सा नहीं होता परन्तु जिसकी शक्ति उस पर शासन करती है। तो भी राजनीतिक अर्थनीति इस तरह लिखी गई है कि मानो इसके वर्ग—पण्य वस्तुएं, श्रम, पूंजी, किराया आदि—परम हों। वस्तुतः तो ये वर्ग वे कल्पनाएं ही हैं जो समग्र मानव क्रियाकलाप में आर्थिक व्यवहारों के महत्व की व्याख्या तो नहीं करते उनको छिपाती हैं। यदि हम मानव क्रियाकलाप के इतिहास को देखें तो हम यह बता सकते हैं कि ये वर्ग किस प्रकार क्रियान्वित हुए, अर्थात् पूंजीवादी पद्धति अस्तित्व में कैसे आई। यदि हम उस पद्धति के प्रवर्तन पर ध्यान दें जिस पर कि ये वर्ग प्रयुक्त होते हैं तो हम समझ जाएंगे कि ये वर्ग जिस वस्तु को, अर्थात् आर्थिक पद्धति के सामाजिक पूर्वापर सम्बन्ध को, छोड़ जाते हैं उसके प्रति आंखें बन्द किए हुए राजनीतिक अर्थशास्त्री उस वर्ग के पूंजीवाद के भीतर ऐसे औद्योगिक श्रमिक वर्ग का निर्माण कर देते हैं कि जिसकी आधारभूत अपेक्षाओं तथा मांगों

को पूंजीवाद आवश्यक रूप से अस्वीकार कर देता है। यह वर्ग वह वर्ग है जिसकी रचना भी आवश्यक रूप से पूंजीवाद करता है और जो आवश्यक रूप से पूंजीवाद का विरोधी भी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्थापित राजनीतिक अर्थनीति पूंजीवाद के परिवर्तन शील स्वरूप को, इस बात को कि पूंजीवाद पतन की तैयारी स्वयं कैसे करता है, नहीं समझ पाती और यह अपने उस अभिनय को भी नहीं समझ पाती जो यह पूंजीवाद को निष्पक्ष निरूपणात्मक व्याख्या के रूप में तो नहीं, परन्तु ऐसी व्याख्या के भेष में, इसके पक्षपातमय समर्थन के रूप में, करती है। इस प्रारम्भिक विश्लेषण से मार्क्स ने चार निष्कर्ष निकाले; ये निष्कर्ष ही मार्क्सवादी सिद्धान्त के आवश्यक सार तत्व हैं।

पहला निष्कर्ष यह है कि यदि सामाजिक पद्धतियों का विश्लेषण किसी वास्तविक अथवा सम्भाव्य (अव्यक्त) सामान्य सार्वहित के शब्दों में करने की कोशिश की जायेगी तो आज तक की सभी सामाजिक पद्धतियों के विषय में एक भ्रान्त धारणा बन जायेगी। 'बहुजन हिताय' जैसे उपयोगितावादी नारों से वह वर्ग-संघर्ष घीमा पड़ जाता है कि जिसमें यदि एक वर्ग के हित सिद्ध होते हैं तो दूसरे वर्ग के हित विफल हो जाते हैं। जिन राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक रूपों से किसी समाज की एकता बनती है वे इस बात के सूचक रहते हैं कि कौन-सा वर्ग प्रमुख है, इन वर्गों में कौन से तनाव हैं और शासक वर्ग को कौन-सी लड़ाइयाँ लड़नी हैं। विचार की प्रमुख पद्धतियाँ तो शासकवर्ग की ही रहती हैं—इससे विपरीत हो ही नहीं सकता। वर्ग से मार्क्स का अभिप्राय उस समूह से है कि जिसके सदस्य उत्पादन प्रक्रिया में अपनी भूमिका के बल पर संगठित होते हैं और सांझी गतिविधि तथा ऐसे सम्बन्ध से प्रस्तुत सांझे लक्ष्यों के आधार पर जान-बूझकर एकता कर सकते हैं।

मार्क्स का दूसरा निष्कर्ष यह है कि उसके अपने युग में (और शायद वह यह भी कहता कि हमारे युग में भी) राजनीतिक तथा सामा-

जिसे सम्बन्धी की कुंजी मध्यवर्ग तथा श्रमिक वर्ग का आपसी सम्बन्ध है। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि मध्यवर्ग का बल तो उत्पादन की उस पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की अयोग्यताओं तथा कमियों को दूर करने में ही है कि जिनका आरोपण एक सामन्ती समाज-व्यवस्था करती है और मध्यवर्ग का बलावल इस बात पर भी निर्भर है कि इसने परिणामभूत, भूस्वामी कुलीन वर्ग से होने वाले अपने संघर्ष को कितना मिटा लिया है।

इस कसौटी से देखा जाय तो मार्क्स की युवावस्था के जर्मनप्रदेश में तथा उसकी वृद्धावस्था के रूस में—दोनों में ही—मध्यवर्ग निर्बल था; इसलिए इंग्लैंड तथा फ्रांस ने उसके आदर्श के अनुरूप, विकसित संस्थाओं वाले मध्यवर्गी समाज प्रस्तुत किये। श्रमिक वर्ग का बलावल इस बात पर निर्भर है कि पूंजीवाद की इतनी उन्नति हो जाए कि श्रमिक लोग नगरों में केन्द्रित हो जायं और अपने औद्योगिक जीवन के अनुभव के फलस्वरूप संगठित होकर आत्मबोध के आधार पर श्रमिकवर्गी संस्थाएं बना लें और इस बात को समझ लें कि मध्यवर्गी उदार संसदीय प्रणाली के आधार पर स्थापित प्रजातन्त्र से उनकी अवस्थाएं नहीं सुधर सकतीं।

श्रमिकवर्ग ही एकमात्र क्रांतिकारी वर्ग है; दूसरे वर्ग, उदाहरणार्थ, नौणमध्य वर्ग और किसान वर्ग, भले ही पूंजीवाद की अधीनता में दुखी हो लें परन्तु उनका अनुभव न तो उन्हें इस प्रकार अनुशासित करता है, न उन्हें यह सिखाता ही है कि वे उस नये वर्गहीन समाज में कुछ लोगों की देखरेख में किए गए लाभार्थ पण्य-वस्तु-उत्पादन के स्थान पर मानव की आवश्यकता के लिए, वह समाजवादी उत्पादन आ जाता है कि जिस का नियन्त्रण सब मिल करते हैं। माओ-त्से-तुंग के शिष्यों का यह दृष्टिकोण कि किसान वर्ग एक स्वतंत्र क्रांतिकारी वर्ग बन सकता है, मार्क्स के लिए सर्वथा अपरिचित है।

मार्क्स का तीसरा निष्कर्ष यह है कि कोई राजनीतिक वाद तब तक समझ में नहीं आ सकता जब तक कि इसको वर्गों के मध्य पारस्परिक संघर्ष की पृष्ठभूमि में न देखा जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि मार्क्स

यह तो सामाजिक विचारों का निष्पक्ष तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है; उसने फैक्टरी निरीक्षकों की रिपोर्टें, सरकारी विवरणों और 'इकॉनॉमिस्ट' नामक पत्र का जम कर उपयोग किया था। परन्तु वह यह मानता था कि सामाजिक पद्धति पर प्रकाश डालने की सभी चेष्टाएं वे चेष्टाएं हैं जो या तो पद्धति के आत्मचित्र को अभिव्यक्त कर देती हैं और इस प्रकार शासक वर्ग का उसी प्रकार उद्देश्य सिद्ध करती हैं जिस प्रकार प्रसिद्ध राजनीतिक अर्थनीति ने किया था, अथवा ये चेष्टाएं पद्धति के सच्चे स्वरूप को उघाड़ कर इस आत्मचित्र की जड़ें खोखली कर देती हैं और उसका समूलोन्मूलन कर डालती हैं और इस प्रकार श्रमिकवर्ग के काम आती हैं।

मार्क्स के अपने लेख यही कार्य करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि इस संघर्ष में प्रभाव डालने वाले कोई निष्पक्ष मानक नहीं हैं। नैतिकता अथवा न्याय के मूलतत्त्व तो बद से भी बदतर हैं; क्योंकि ये मूलतत्त्व आज जिस रूप में हैं, इस समय तक के शासक वर्गों के हितों की अभिव्यक्ति के ही अनुकूल हैं : धर्म की ओर देखना तो और भी अधिक बुरा है क्योंकि धार्मिक भ्रान्तियां दो काम करती हैं—एक ओर तो वे धर्मतन्त्री समाज का समर्थन करती हैं—उसको उचित ठहराती हैं और दूसरी ओर पीड़ित को मिथ्या तसल्ली देती हैं जिनसे केवल यही होता है कि क्रांतिकारी सक्रियता शिथिल पड़ जाती है।

अधिक व्यापक रूप से हम यह कह सकते हैं कि मार्क्स बौद्धिक क्रिया से इसकी सामाजिक भूमिका को पृथक नहीं करता। कभी-कभी उसके विषय में यह कहा गया है कि उसका यह कहना है कि विचार तो मूलरूप से शक्तिहीन होते हैं और इतिहास को प्रेरणा-आर्थिक गतिविधि से मिलती है। मार्क्स कहता है कि वास्तविक बेलाग सिद्धान्तीकरण का कोई अस्तित्व ही नहीं है और उसकी दृष्टि में कल्पनाओं की सामाजिक शक्ति, उनसे अभिव्यक्त सामाजिक तथा आर्थिक आन्दोलनों की शक्ति पर निर्भर है। परन्तु वह यह भी मानता था कि जब तक हम सामाजिक

जिक सम्बन्धों की कुंजी मध्यवर्ग तथा श्रमिक वर्ग का आपसी सम्बन्ध है। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि मध्यवर्ग का बल तो उत्पादन की उस पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की अयोग्यताओं तथा कमियों को दूर करने में ही है कि जिनका आरोपण एक सामन्ती समाज-व्यवस्था करती है और मध्यवर्ग का बलावल इस बात पर भी निर्भर है कि इसने परिणामभूत, भूस्वामी कुलीन वर्ग से होने वाले अपने संघर्ष को कितना मिटा लिया है।

इस कसौटी से देखा जाय तो मार्क्स की युवावस्था के जर्मनप्रदेश में तथा उसकी वृद्धावस्था के रूस में—दोनों में ही—मध्यवर्ग निर्बल था; इसलिए इंग्लैंड तथा फ्रांस ने उसके आदर्श के अनुरूप, विकसित संस्थाओं वाले मध्यवर्गी समाज प्रस्तुत किये। श्रमिक वर्ग का बलावल इस बात पर निर्भर है कि पूंजीवाद की इतनी उन्नति हो जाए कि श्रमिक लोग नगरों में केन्द्रित हो जायें और अपने औद्योगिक जीवन के अनुभव के फलस्वरूप संगठित होकर आत्मबोध के आधार पर श्रमिकवर्गी संस्थाएं बना लें और इस बात को समझ लें कि मध्यवर्गी उदार संसदीय प्रणाली के आधार पर स्थापित प्रजातन्त्र से उनकी अवस्थाएं नहीं सुधर सकतीं।

श्रमिकवर्ग ही एकमात्र क्रांतिकारी वर्ग है; दूसरे वर्ग, उदाहरणार्थ, मौरमध्य वर्ग और किसान वर्ग, भले ही पूंजीवाद की अधीनता में दुखी हो लें परन्तु उनका अनुभव न तो उन्हें इस प्रकार अनुशासित करता है, न उन्हें यह सिखाता ही है कि वे उस नये वर्गहीन समाज में कुछ लोगों की देखरेख में किए गए लाभार्थ पण्य-वस्तु-उत्पादन के स्थान पर मानव की आवश्यकता के लिए, वह समाजवादी उत्पादन आ जाता है कि जिस का नियन्त्रण सब मिल करते हैं। माओ-त्से-तुंग के शिष्यों का यह दृष्टिकोण कि किसान वर्ग एक स्वतंत्र क्रांतिकारी वर्ग बन सकता है, मार्क्स के लिए सर्वथा अपरिचित है।

मार्क्स का तीसरा निष्कर्ष यह है कि कोई राजनीतिक वाद तब तक समझ में नहीं आ सकता जब तक कि इसको वर्गों के मध्य पारस्परिक संघर्ष की पृष्ठभूमि में न देखा जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि मार्क्स

यह तो सामाजिक विचारों का निष्पक्ष तथात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है; उसने फैक्टरी निरीक्षकों की रिपोर्टें, सरकारी विवरणों और 'इकॉनॉमिस्ट' नामक पत्र का जम कर उपयोग किया था। परन्तु वह यह मानता था कि सामाजिक पद्धति पर प्रकाश डालने की सभी चेष्टाएं वे चेष्टाएं हैं जो या तो पद्धति के आत्मचित्र को अभिव्यक्त कर देती हैं और इस प्रकार शासक वर्ग का उसी प्रकार उद्देश्य सिद्ध करती हैं जिस प्रकार प्रसिद्ध राजनीतिक अर्थनीति ने किया था, अथवा ये चेष्टाएं पद्धति के सच्चे स्वरूप को उघाड़ कर इस आत्मचित्र की जड़ें खोखली कर देती हैं और उसका समूलोन्मूलन कर डालती हैं और इस प्रकार श्रमिकवर्ग के काम आती हैं।

मार्क्स के अपने लेख यही कार्य करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि इस संघर्ष में प्रभाव डालने वाले कोई निष्पक्ष मानक नहीं हैं। नैतिकता अथवा न्याय के मूलतत्त्व तो बद से भी बदतर हैं; क्योंकि ये मूलतत्त्व आज जिस रूप में हैं, इस समय तक के शासक वर्गों के हितों की अभिव्यक्ति के ही अनुकूल हैं : धर्म की ओर देखना तो और भी अधिक बुरा है क्योंकि धार्मिक भ्रान्तियां दो काम करती हैं—एक ओर तो वे धर्मतन्त्री समाज का समर्थन करती हैं—उसको उचित ठहराती हैं और दूसरी ओर पीड़ित को मिथ्या तसल्ली देती हैं जिनसे केवल यही होता है कि क्रांतिकारी सक्रियता स्थिर पड़ जाती है।

अधिक व्यापक रूप से हम यह कह सकते हैं कि मार्क्स बौद्धिक क्रिया से इसकी सामाजिक भूमिका को पृथक् नहीं करता। कभी-कभी उसके विषय में यह कहा गया है कि उसका यह कहना है कि विचार तो मूलरूप से शक्तिहीन होते हैं और इतिहास को प्रेरणा-आर्थिक गतिविधि से मिलती है। मार्क्स कहता है कि वास्तविक बेलाग सिद्धान्तीकरण का कोई अस्तित्व ही नहीं है और उसकी दृष्टि में कल्पनाओं की सामाजिक शक्ति, उनसे अभिव्यक्त सामाजिक तथा आर्थिक आन्दोलनों की शक्ति पर निर्भर है। परन्तु वह यह भी मानता था कि जब तक हम सामाजिक

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
 आन्दोलनों की उचित अभिव्यक्ति विचारों के साम्राज्य में नहीं करेंगे, उन पर दार्शनिक ढंग से विचार नहीं करेंगे तो वे असफल हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, मानव की क्रियाओं में इस प्रकार जान फूँक देने के लिए कि वे अपनी परिस्थिति पर अधिक सफल नियंत्रण रख सकें—चिन्तन की शक्ति मानव इतिहास की प्रत्येक मंजिल पर बढ़ती है। (चिन्तन के कारण ही आज) मध्यवर्गीय समाज में प्रकृति मनुष्यों को गुलाम नहीं बनाती; और साम्राज्यवादी समाज में मनुष्य को अब सामाजिक सम्बन्ध गुलाम नहीं बना सकेंगे। मान्यताओं तथा प्रकल्पनाओं के सम्बन्ध में सदा यह प्रश्न रहता है। “इनसे किस प्रकार की गतिविधि की अभिव्यक्ति होती है?”—“अब तक संसार का अर्थ सदा दार्शनिकों ने लगाया है; परन्तु बात तो इसको बदलने की है।”

चौथी बात यह है कि मध्यवर्ग के विरुद्ध श्रमिक वर्ग का संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष है; परन्तु मार्क्स ने यह स्वीकार किया कि कोई भी राजनीतिक संघर्ष उसी सीमा तक आगे बढ़ सकता है जिस सीमा को समाज की आर्थिक उन्नति प्रकट करती है। श्रमिक वर्गों के प्रजातन्त्र की स्थापना में फ्रांसीसी राज्यक्रांति की असफलता, जैसा कि उदाहरणार्थ ‘बाबेफ’ का विचार था, क्रांतिकारियों की ओर से किसी प्रकार की व्यवस्था सम्बन्धी असफलता के कारण नहीं हुई थी; इस असफलता का कारण राजनीतिक सम्भावनाओं की वे सीमाएं थीं—जिन सीमाओं की स्थापना मध्यवर्गीय अर्थव्यवस्था की एक नियत अवस्था तक प्रगति द्वारा हुई थी। मध्य-वर्ग की आर्थिक प्रगति एक सीमित अवस्था तक हुई थी इसलिए उसके राजनीतिक परिणाम भी सीमित ही होने थे।

मार्क्स की युवावस्था के जर्मनी देश में साम्यवादी आन्दोलन श्रमिक वर्ग में तब तक नहीं बढ़ सकता था जब तक कि पूंजीवादी औद्योगीकरण और अधिक नहीं बढ़ता। नये वर्ग के लिए क्रांति की सम्भानाएं तभी होती हैं जबकि आर्थिक वृद्धि द्वारा आवश्यक पूर्व परिस्थितियां

उपस्थित होने लगे। जब तक यह स्थिति उपस्थित नहीं होती कि श्रमिकों के कार्य राजनीतिक दृष्टि से होने लगे जब तक तो वे, अभी उदीयमान मध्यवर्ग के सहायकों का ही काम करते हैं। १७८६ से १७९३ तक की अवधि में फ्रांस में यही दशा रही, परन्तु १८४८ में फ्रांस में पहली बार श्रमिक वर्ग मध्य वर्ग के विरुद्ध क्रांतिकारी रूप में खड़ा हुआ था।

१८४८-४९ के क्रांतिकारी वर्षों में मार्क्स सामाजिक प्रकल्पना करने के कार्य से आगे बढ़कर राजनीतिक कार्यक्रम बनाने के कार्य की ओर पर्याप्त अग्रसर हुआ। यह परिवर्तन पहले पहल 'मैनिफेस्टो ऑफ दि कम्युनिस्ट पार्टी' नाम की पुस्तक में दिखाई दिया—यह पुस्तक उसने तथा 'ऐंजल्स' ने कम्युनिस्ट लीग की लन्दन शाखा के लिए १८४७ के अंतिम सप्ताहों में तथा १८४८ के आरम्भ के दिनों में लिखी थी। 'मैनिफेस्टो' की शैली ही स्वयं ऐसी है कि उससे यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि मार्क्स इस बात को मानता था कि सिद्धान्त-स्थापना तथा उसकी क्रियान्विति ये दोनों कार्य साथ-साथ होने चाहिए। क्योंकि यह शैली सिद्धान्त-स्थापन की अन्तर्दृष्टि के साथ कार्यपरिणति के आवाहन सम्बन्ध जिस आवेग के साथ जोड़ती है, वह, राजनीतिक सिद्धान्त की रचनाओं में बहुत ही कम मिलता है। "यूरोप पर एक भूत—साम्यवाद का भूत—मंडरा रहा है।" क्यों? यह भूत सारे पूर्ववर्ती इतिहास का परिणाम है। "गुलामों के मालिक के स्थान पर सामन्ती भूस्वामी आया; सामन्ती भूस्वामी के स्थान पर पूंजीपति आया; अब पूंजीपति अपने विनाश को जन्म देता है। अपने समय में मध्यवर्गियों ने एक क्रांतिकारी भूमिका निवाही। मध्य वर्ग ने लाभ के पीछे निर्वाह दौड़ लगाकर और प्रकृति की प्रत्येक विजय से निर्दयतापूर्वक लाभ उठा कर सामन्तशाही के बन्धनों को तोड़ डाला। बाजार की अर्थव्यवस्था के सम्मुख मनुष्यों के आलसी सभी पैतृक बन्धन मात हो गए—वे सब छिन्नभिन्न हो गए। उन बन्धनों का स्थान जिस वस्तु ने अब लिया है उसका नाम आर्थिक

परन्तु उपार्जनशील लोभी शोषक मध्य वर्ग मनुष्य की प्रकृति तथा उसके जीवन दोनों में भारी परिवर्तन करने की कार्यवाही करता-करता स्वयं घोखा खा गया है । जिन शक्तियों और प्रक्रियाओं को इसने जन्म दिया उन्हीं पर इसका अब नियंत्रण नहीं रह गया है; इस बात का लक्षण आर्थिक संकट की पुनरावृत्ति है और यह वर्ग औद्योगिक श्रमिक वर्ग की सतत वृद्धि को रोक नहीं सकता क्योंकि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था को इसका संगठन इस ढंग से करना ही पड़ता है कि अन्त में श्रमिक इस संगठन को अपने मालिकों के विरुद्ध प्रयुक्त करके इससे लाभ उठा लें । उत्पादन साधनों की निजी मिल्कियत को रद्द करने वाली क्रांति जिन मूल्यों को नष्ट करेगी, वे केवल मध्यवर्गीय जीवन के मूल्य ही होंगे ।

सम्पत्ति की वकालत करने वालों का यह दावा कि समाजवाद स्वतन्त्रता, संस्कृति तथा नैतिकता को नष्ट कर देगा, इन को और मध्यवर्गीय स्वतन्त्रता, संस्कृति तथा नैतिकता को एक मानने पर निर्भर है—और श्रमिक वर्ग की दृष्टि से तो ये सभी सारहीन हैं । अधिकार सम्भाल लेने पर इस वर्ग को पहले पहल वे उपाय काम में लाने होंगे कि जिनसे भूमिका, साख का और परिवहन का राष्ट्रीयकरण हो और इस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन की असंगति—नियमविहीनता पर चोट पड़े । श्रमिक वर्ग सम्पत्ति पर कर लगाने, उत्पादन बढ़ाने, सभी के लिए काम तथा शिक्षा की व्यवस्था करने आदि के उपाय करेगा ।

पाठक का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता कि एक ओर तो इस कार्यक्रम का इतना विशिष्ट वर्णन किया गया है और दूसरी ओर, सत्ता को सम्भाल लेने पर श्रमिक वर्ग इस कार्यक्रम को कैसे क्रियान्वित करेगा इसके वर्णन का उतना ही विशिष्ट अभाव है । 'मैनिफैस्टो' के आरम्भ के पृष्ठों में मार्क्स ने वर्गसंघर्ष के दो सम्भव विकल्पों का वर्णन किया था : या तो एक वर्ग की दूसरे वर्ग पर

Digitized by Anva Samaj Foundation, Chennai and eGangotri
 विजय होगी अथवा अतिस्पर्धी वर्गों का विनाश हो जाएगा। मार्क्स को जब समाजवादी परिवर्तन के स्वरूप के सम्बन्ध में इतना अस्पष्ट ज्ञान है तब भला उसको इन दोनों विकल्पों में से अन्त में श्रमिक-वर्ग के विजयी होने का क्यों निश्चय है !

इसी समस्या ने अनेकानेक रूपों में मार्क्स को उसके पिछले जीवन में चिन्तनरत रखा। विशेषतया उसने दो विषयों में अपनी सम्मतियों को बदला। इसमें से पहला विषय तो राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध अल्पसंख्यक क्रांतिकारियों तथा शेष श्रमिकों का आपसी सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध में मार्क्स का यह मत बना कि क्रांति होने से पूर्व यह आवश्यक है कि श्रमिक वर्ग में क्रांतिकारी प्रयोजन के विषय में व्यापक जागृति-तथा प्रबोध उत्पन्न हो जाय। वह उन चुने हुए श्रेष्ठ वर्गियों का सर्वथा विरोधी रहा कि जो यह समझते थे कि नेताओं का एक छोटा-सा अनुशासित दल श्रमिक वर्ग की ओर से क्रांति कर सकता है।

इसके अतिरिक्त मार्क्स ने आर्थिक कठिनाइयों और पूंजीवाद तथा श्रमिकवर्ग की क्रांतिकारी गतिविधि की संकटावस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या से भी कशमकश की। बाद के उन्नीसवीं सदी के अनुभव से उसने यह सीखा कि पूंजीवादी व्यवस्था के भंग से श्रमिकवर्गी क्रांति स्वयं उत्पन्न नहीं हो जाती : इसलिए उस क्रांतिकारी दल का अस्तित्व अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है जो श्रमिकवर्ग को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर क्रांतिकारी सम्भाव्यशक्ति का प्रबोध प्रदान करे। इसीलिए मार्क्स की बाद की अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्यवाही सम्भवतः यह रही कि 'इंटरनेशनल वर्किंग मेन्स असोसियेशन' (अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-सभा) की स्थापना करे और उसका पथ-प्रदर्शन करे। इसका उद्घाटन-भाषण देते हुए उसने घोषणा की थी कि "श्रमिकवर्ग का उद्धार स्वयं श्रमिकवर्ग को ही करना होगा।" इससे स्पष्ट है कि मार्क्स (फेबियन सोसाइटी द्वारा प्रवर्तित) फेबियनवाद तथा 'ऊपर से समाजवाद' के दूसरे सभी सिद्धान्तों का निश्चित विरोधी था। परन्तु इससे भी श्रमिकवर्ग की

मार्क्स इस समस्या को सुलझाना चाहता है—इस बात को जानने के कम से कम तीन स्रोत हैं। पहला स्रोत तो निरी भूल है। विश्व इतिहास की अनिवार्य प्रगति में क्या कुछ समाविष्ट है—इस विषय पर आरम्भिक मार्क्स का हेगल से मतभेद था परन्तु अनिवार्य प्रगति की विचारधारा को वह सर्वथा कभी नहीं छोड़ सका। बाद के मार्क्स ने एंजल्स की वह विचारधारा ग्रहण की जिसको मुख्य रूप से ऐतिहासिक प्रगति की यान्त्रिक तथा क्रांतिकारी व्याख्या कह सकते हैं—इस प्रकार मार्क्स का विचार मानो उस पद्धति के संकरे आवरण में बलात् ढकेल कर बनाया गया था जो पद्धति एक साथ निरी सिद्धान्ताश्रित भी है (इसके नियम अंकों पर, रासायनिक यौगिकों पर और गेहूँ के दानों पर भी उतने ही लागू हैं जितने कि सामाजिक वर्गों पर लागू हैं) और आशावादी भी हैं। इस प्रकार उसके मन से मनुष्य के मामलों के संचालक अनिवार्य तथा आवश्यक नियमों की तथा उनको उनके लक्ष्य पर पहुँचने की धारणा फिर लौट आती है; तो भी ठीक यही वह धारणा है कि जिस पर तरुण मार्क्स ने इसको मिथ्या प्रबोध और पृथक्-करण का चिन्ह बताकर आक्षेप किया था।

दूसरे यह कि मार्क्स का यह निश्चित मत था कि भविष्य को समझने के लिए पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के प्रवर्त्तनों की व्याख्या करना प्रमुख अनिवार्यता है। इसीलिए उसने स्वयं तीस वर्ष तक 'कैपिटल' लिखने में अपना बौद्धिक प्रयास किया—१८६७ तक—इसका केवल प्रथम खण्ड ही पूरा हुआ था और प्रकाशित हो सका था।

'कैपिटल' एक ऐसी श्रेष्ठ कृति है जिसकी युक्तियाँ ऊबड़ खावड़ हैं। पूँजीवाद के आवश्यक विस्तार के विषय में यह रचना आज भी उतनी ही ज्ञानप्रद है जितनी कि तब थी जबकि यह लिखी गयी थी। पूँजीवाद वह आर्थिक व्यवस्था है जिसका नियम 'विस्तार पाओ और नष्ट हो जाओ' शब्दों में प्रकट किया जा सकता है। 'पूँजीवाद जिस मंडीवाली

अर्थव्यवस्था की प्रकृति है उस अर्थव्यवस्था की विविधता का वर्णन एक स्थायी रूप से महत्त्वपूर्ण ढंग से किया गया है। उसका खास भविष्यकथन इतना सन्तोषप्रद नहीं हुआ है : पूंजी के संकेन्द्रण तथा बड़े गुट के जन्म और उसकी अभिवृद्धि के सम्बन्ध में तो उसका कथन ठीक निकला; लाभ की गिरतीदर के विषय में तथा सामाजिक वर्गों के पूंजीपतियों तथा श्रमिकों में खिंचकर चले जाने के विषय में उसका कथन गलत रहा। परन्तु उस विस्तार की सम्भावनाओं के विषय में तो 'कैपिटल' का विवेचन निश्चित रूप से भ्रामक सिद्ध हुआ जो उसकी दृष्टि से भविष्य में पूंजीपतियों के लिए तो निर्विघ्न सिद्ध होता है।

अल्प-खपत से बचने के लिए मार्क्स ने न तो शिल्पीय नूतनताओं की भूमिका पर विचार किया न उसने कल्याण राज्य में प्रयुक्त की जाने वाली पद्धतियों पर ही ध्यान दिया। इस सम्बन्ध में उसकी भूलें उसकी अन्तर्दृष्टियों की नकल ही रहीं। वह पूंजीवाद के व्यवस्थित स्वरूप को समझने के लिए पहली आवश्यक बात यह समझता है कि इसके रूप की कल्पना एक पूर्णतया निष्पन्न तथा तैयार पद्धति के नमूनों पर की जाय। वह इस नमूने को सामने रखकर, पूंजी, श्रम आदि विभागों की ओर ध्यान दिलाकर विचार-विमर्श करता है। उसके विचार-विमर्श का परिणाम यह होता है कि वह इस बात को स्वीकार नहीं कर पाता कि इस बात की कोई सम्भावना है कि पूंजीपति इस पद्धति को समझ जाएगा और वे उपाय कर लेगा कि जिनसे पद्धति उस रीति से नष्ट न होने पाएगी कि जिस रीति से इसके नष्ट होने की मार्क्स ने भविष्यवाणी की है। यहां फिर मार्क्स उसी भूल का शिकार हो जाता है कि जिसका भांडाफोड़ वह स्वयं पहले कर चुका है : ठीक वैसे ही जैसे कि प्रसिद्ध राजनीतिक अर्थशास्त्रियों ने मान लिया था—मार्क्स भी यह मान बैठता है कि उसके अपने अमूर्तवर्ग अन्तिम हैं तथा वे पर्याप्त हैं।

तथापि, मार्क्स ने अपने वाद के विकास के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण अपनाया वह, यदि अतिशय यांत्रित था तो साथ ही यह बात भी थी कि

श्रमिकवर्ग के उद्धार के विषय में उसकी जो धारणाएँ थीं उनका आधार केवल यही दृष्टिकोण नहीं था। निस्सन्देह, ऐसा हो भी नहीं सकता था क्योंकि श्रमिकों के उद्धार के विषय में उसकी धारणाएँ तो उसकी अपनी परिपक्व आर्थिकप्रकल्पना से और एंजल्स द्वारा किए गए उन दोनों सांभे-तत्व-दर्शन के भाष्य से पूर्व ही बन गई थी। श्रमिकवर्ग के जीवन के सम्बन्ध में हुए मार्क्स का अपना अनुभव और इससे प्राप्त उपलब्धि उसके लिए कम से कम इतनी ही महत्वपूर्ण तो थी ही। बाद के वर्षों में समाजवाद का जो पूर्वचित्र मार्क्स के मन में उभरा उसका कारण निरा उस कल्पना पर निर्भर रहना ही नहीं था कि जिसको केनीज ने तथा दूसरे लेखकों ने अत्यन्त आक्षेपयोग्य समझा अपितु उसका कारण पैरिसकम्यून के श्रमिकों की कार्रवाई तथा जर्मन-सामाजिक लोकतन्त्र का उदय अधिक था। श्रमिकवर्ग के कार्यकलाप का अर्थ लगाने में उसने प्रकल्पना के जिस ढांचे से काम लिया था वह उसकी 'कैपिटल' पुस्तक के सूत्रविशेषों का ढांचा इतना नहीं है जितना कि उसके १८४० के दशक में लिखे गए उन लेखों का ढांचा है कि जिनके विचारों का उसने कभी खण्डन नहीं किया था।

जॉन स्टुअर्ट मिल

(नोएल एनन)

‘आन लिबर्टी’ (स्वतन्त्रता के विषय में) शीर्षक मिल का निबन्ध अब एक शताब्दि से अधिक पुराना पड़ चुका है। तब से आज तक किसी अंग्रेज ने राजनीतिक-चिन्तन पर इतनी महत्वपूर्ण कोई रचना नहीं प्रकाशित की। निःसन्देह, राजनीतिक विज्ञान के अध्येताओं को इस सन्दर्भ में टी० एच० ग्रीन तथा दूसरे अंग्रेज आदर्शवादी दार्शनिक याद आएंगे और निस्सन्देह, हमें सुधारप्रिय राजनीतिक परम्परा पर गर्व अनुभव हो सकता है; परन्तु चाहे ये समाजवाद पर लिखे गए फेबियन समाजवादियों के लेख हों अथवा क्रमिक परिवर्तन के तथा परम्पराओं के परिरक्षण के समर्थन में प्रस्तुत अनुदारदलियों का तर्क-वितर्क हो, १८५६ से इस सम्बन्ध में जो भी कुछ लिखा गया है उसको सारे अंग्रेजी राजनीतिशास्त्र का सर्वोत्तम नाम रोचक अनुभवात्मक-विमर्शमाला ही दिया जा सकता है। परन्तु मिल का यह निबन्ध कुछ भिन्न प्रकार का है। यह तो जीवन की एक पद्धति विशेष का, उदार जीवन-पद्धति का, स्मारक चिह्न ही है।

यह बात मैं इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि ‘आन लिबर्टी’ शीर्षक निबन्ध दार्शनिक दृष्टि से गम्भीर है। वस्तुतः तो यह निष्ठा की एक स्पष्टोक्ति—भावावेशमय धर्मोपदेश, ही है। परन्तु यह धर्मोपदेश विवेक के स्वरो में दिया गया है और प्रेरणात्मक-कला की दृष्टि से सर्वोत्तम कृति है। प्रश्न यह है कि मिल अपने समकालीनों को क्या कुछ करने की प्रेरणा देने की कोशिश में था? क्या उसके सन्देश का आज भी हमारे लिए कोई अर्थ है? निश्चय ही, स्वतन्त्रता का उसका मानसिक चित्र टॉमपेन के स्वतन्त्रता के मानसिक चित्र से बहुत अधिक भिन्न था। रूसो की कृतियों के पाठक कांतिकारी टॉमपेन को, दूसरे सभी कांतिकारियों की भांति यह विश्वास हो गया था कि समाज की स्थिति बिगड़ी हुई है।

वह चाहता था कि मनुष्य स्वतन्त्र हो, और वे स्वतन्त्र क्यों नहीं थे इसका कारण उसकी सम्मति में यह था कि उन पर अत्याचारियों का शासन है। इस सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए उसने अंग्रेजी इतिहास का वह भाष्य किया कि जिस के अनुसार लोगों की स्वतन्त्रता तब छिनी थी जब कि दुष्ट नार्मन विजेताओं ने इंग्लैंड की भूमि पर पैर रखा था। तब से लेकर सदा ही राजाओं तथा भूस्वामियों ने जनता की स्वतन्त्रता को हड़पे रखा। जनता को व्यापक मताधिकार तथा व्यापक संविधान दे दीजिये, समाज के सारे ढाँचे को बदल डालिये और स्वतन्त्रता उपलब्ध हो जाएगी।

मिल की तर्कशैली इस शैली से सर्वथा भिन्न है; और स्वतन्त्रता की इस क्रांतिकारी प्रकल्पना की ओर तो वह प्रायः संकेत भी नहीं करता। मिल शुरू से यह मानकर चलता है कि इंग्लैंड स्वतन्त्र है। मिल के युग में इंग्लैंड सभी दूसरे देशों से भिन्न था : न यह एकतन्त्र शासन था; न तानाशाही था अथवा किसी शासकवंश का वंशवर्ती लगभग प्रबुद्ध निरंकुश शासन ही था—यह वह देश था कि जिस में न्यायपालिका, विधायिका तथा कार्यपालिका—दोनों—से स्वतन्त्र हो चुकी थी और जिसमें 'राजकाज के कारण' किसी पर न मुकदमा चलाया जा सकता था न उसे अपराधी ठहराया जा सकता था। तो भी मिल ने सोचा कि इंग्लैंड के लिए यह आवश्यक है कि वह और अधिक स्वतन्त्र हो। उसने ऐसा क्यों सोचा ?

इसका एक ही सहज कारण था। मिल महान् फ्रांसीसी राजनीतिक विचारक डी० टॉकवील के विचार पढ़ चुका था; इस महान् लेखक की अमरीकी प्रजातन्त्र पर लिखी हुई पुस्तक की गणना उन्नीसवीं सदी की प्रसिद्ध भविष्यद्वक्ता पुस्तकों में थी। मिल तथा डी टॉकवील दोनों ने व्यापक मताधिकार तथा प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र प्रणाली के प्रचलन का स्वागत किया परन्तु दोनों ने अपनी पीढ़ी को चेतावनी दी थी कि यद्यपि प्रजातन्त्र प्रणाली अनिवार्य है, तथा ठीक भी है, परन्तु इसके

साथ कई धुनियाँ भी अवश्य आयोगों। इनमें से एक धुन यह थी कि सम्भव है कि बहुमत, शासनाधिकार को सामान्यजनों के हाथ में सौंप दे और जनसाधारण जब विशेष प्रतिभाशालियों में कुछ ऐसी बात पाये कि वे उसे न तो समझ सकें अथवा न स्वीकार ही कर सकें तो जनसाधारण की धृणा से कुचले जाकर सम्भवतः प्रतिभाशाली, स्वतन्त्रविचारक, धुन के पक्के, और मौलिक विचार वाले आदि सभी प्रतियोगिता में हार जायें।

मिल मध्य वर्ग का एक आमूल परिवर्तनवादी था—इस रूप में उसके लिए कुलीनतन्त्रीय इंग्लैंड के दृष्टिकोण की कोई उपयोगिता नहीं थी और उस समय के अंग्रेजी श्रमिक वर्ग के मत और मध्यवर्गीय आमूल-परिवर्तनवाद में इसके अतिरिक्त कोई अन्तर बता सकना कठिन ही था कि श्रमिक वर्ग की आस्था श्रमिक संघवाद में थी। यह बात पूर्णतया उचित ही प्रतीत होती है कि उसने अपने समय के अर्धशिक्षित मध्यवर्ग को देखकर यह अनुमान लगाया कि सर्वथा कर्मठ (अभावुक) उद्योग-पतियों, जोशीले धर्मप्रचारकों अथवा ग्रामीय हट्टे-कट्टे, काश्तकारों की सम्मतियाँ इस बात का पर्याप्त अच्छा संकेत हैं कि भविष्य में क्या कुछ होने वाला है। उसने यह बात खूब समझ ली थी कि उजड़-वर्ग की सम्मति के दबाव के कारण ही कई बार क्यों युक्तियुक्त सुधार नहीं किये जा सके और यह भी समझ लिया था कि इसका रख उन लोगों को परेशान करने का क्यों रहा कि जिनके विचार रूढ़िमुक्त थे। मिल ने मनुष्यों के कृत्यों के दो वर्ग बनाने की कोशिश की : एक तो थे 'परो-द्देश्यक' (other-regarding) कृत्य—इन पर नियन्त्रण रखने का सरकार को इस कारण पूरा अधिकार था कि इनका दूसरे लोगों के जीवनो पर प्रभाव पड़ता है। दूसरे हैं, 'स्वोद्देश्य कृत्य (self-regarding) : इनका प्रभाव केवल मात्र कर्त्ता तक सीमित है और इसलिए इनको अनुल्लंघ्य समझा जाना चाहिये—इनको ऐसा समझना चाहिये कि इन पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता।

‘आन लिबर्टी’ निबन्ध के एक भाग में यह सिद्ध करने की कोशिश की गई है कि मनुष्य को यह निश्चय दिलाया जाना चाहिये कि उसकी मान्यताओं और प्रकट की गई सम्मतियों में राज्य की ओर से लगभग कभी कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा और यह निश्चय दिलाया जाना चाहिये कि यदि कोई धार्मिक सम्प्रदाय अथवा श्रमिक संघ सरीखा कोई दबाव डालने वाला समुदाय किसी मनुष्य को इस कारण चुप कराने के लिए शोर मचायेगा कि वह मनुष्य ऐसी सम्मतियां प्रकट कर रहा है कि दबाव डालने वाले समुदाय की दृष्टि में वे अहितकर हैं तो, सरकार उसको कोई सहारा नहीं देगी। इस दलील का आधार मिल की यह मान्यता थी कि सचाई प्रकट होने का एकमात्र मार्ग यही है कि विचारों को हाट-वाजार में फैंक दिया जाय, वहां उन पर विमर्श हो और उनके लिए संघर्ष हो; क्योंकि लोग जब तक सचाई की खोज में व्यस्त नहीं होंगे, समाज में गतिरोध रहेगा और उन्नति रुक जायेगी।

मिल ने कृत्यों के जो दो भेद—स्वोद्देश्यक तथा परोद्देश्यक नाम से किये थे—उसकी इस मान्यता पर वर्षों तक विवाद चालू रहा। यदि कोई इन कृत्यों की सतर्क परिभाषा का यत्न करेगा तो, निश्चय ही, मिल के इस वर्गीकरण का समर्थन नहीं किया जा सकेगा। तब भला वह कौन-सी कसौटी है कि जिसके आधार पर हमें यह कहने की अनुमति मिले कि समाज में आचरण का कुछ क्षेत्र अनाक्रमणीय रहना चाहिए? इसका कोई आवश्यक कारण नहीं है। हमारे अधिकारों का स्पष्टीकरण कानून ने किया है और यही अधिकार हमारे वास्तविक अधिकार हैं।

परन्तु ऐसे अधिकारों का एक दूसरा क्षेत्र भी है जो इस कारण वैध हैं कि समाज की व्यापक सहमति से वे वैध माने जाने चाहिए और इस विषय में पेन ने मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों के विषय में जो वार्ता दी है उससे प्रकट होता है कि वह मिल की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट था—भले ही प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या हम उसी ढंग से न करें

कि जिस ढंग से वेम ने की थी। मिल ने कहा—समूची मनुष्य जाति को भी यह अधिकार नहीं है कि वह एक अकेले 'विमत' को—भिन्न मत रखने वाले व्यक्ति को चुप कर दे।" यह एक शानदार वक्तव्य अवश्य है, परन्तु इस कारण सर्वथा मिथ्या है कि कितनी ही वे परिस्थितियां परिकल्पित की जा सकती हैं कि जिनमें यह बात बड़ी गम्भीरता से सिद्ध की जा सकती हैं कि असहमत को चुप कराना चाहिए। उदाहरण के लिए किसी मिली जुली आवादी वाले प्रदेश में जातीयविद्वेष फैलाने की गम्भीर चेष्टा करने वाले मनुष्य को, भले हो उसकी एक जाति से दूसरी जाति की श्रेष्ठता कितनी ही उचित क्यों न हो, चुप कराना ही होगा।

मिल के तर्क में एक दूसरा दोष भी है। मिल की जहां यह माना था कि बल-प्रयोग, कैसा भी क्यों न हो, बुरा है, भले ही यह कभी-कभी आवश्यक क्यों न हो जाता हो, उसने इसी सांस में यह भी कहा कि सभी को सत्य का पता लगाने की चेष्टा करनी चाहिए, भले ही इसका परिणाम निःशंक मतभेद ही क्यों न हो। यह दोनों स्थापनाएँ एक नहीं हैं और जैसा कि सर आइजाया बर्लिन ने अपनी पुस्तक 'टू कन्सेप्ट्स ऑफ लिबर्टी' (स्वतंत्रता की दो धारणाएँ) में बताया, सत्य के प्रति प्रेम और जोशीला व्यक्तिवाद-दोनों ही, जैसे उन अपेक्षतया, क्षणिक सहिष्णु समाजों में जिसमें कि लोगों को जीवन के विविध तथा परस्पर विरोधी जीवनादर्शों की वकालत करने की छूट है, बढ़ रहे हैं; वैसे ही स्काटलैंड तथा न्यूइंग्लैंड के प्यूरिटन काल्विनवादी सरीखे पक्के और अनुशासन-प्रिय समाजों में भी बढ़ रहे हैं। हम आज इस बात को पर्याप्त स्पष्टता से समझ रहे हैं कि समाज का बहुमत जो कुछ चाहता है अथवा करता है उसको मनवाने के लिए जहां भयानक दबाव डाले जाते हैं—वहां अल्पमत में सम्मिलित होने का कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं दिखाई देता। अल्पसंख्यक समुदाय भी अपने सदस्यों पर ठीक वैसे ही शोचनीय तथा अविचारणीय समर्थन का दबाव डाल सकते हैं जैसे कि बहुमत डालता है।

एक बात और भी ऐसी है कि जिसके कारण 'आन लिबर्टी'—

शीर्षक मिल का निबन्ध पुरानी शैली का प्रतीत होता है। निबन्ध के अधिकांश में वह दो का अस्तित्व स्वीकार करता है—व्यक्ति का और समाज का। आज हम को इस बात की बहुत अधिक अनुभूति है कि भले ही प्रत्येक राष्ट्रीय राज्य की अपनी संस्कृति हो, परन्तु इसमें बसने वाले व्यक्तियों की विचारधाराएँ भावनाएँ तथा आचरण भिन्न-भिन्न होते हैं। इन भिन्नताओं के आधार वर्गानुसार पालन-पोषण, धर्म, आय, आदि सभी हैं। जो राष्ट्रीय राज्य अत्यन्त सुसम्बद्ध हैं और एकरस हैं, उन तक में नस्ल अथवा भौगोलिक स्थिति के आधार पर ऐसे समुदाय बन जाते हैं कि उनके कारण व्यक्तियों में फूट पड़ जाती है। समाज के जिन उप-समुदायों को यह अनुभव होता है कि सामाजिक परिवर्तन से उनकी हैसियत में कमी आती है अथवा उस पर दूसरा उप समुदाय हमला कर रहा है, वे उपसमुदाय स्वतन्त्रता विरोधी रुख धारण कर लेते हैं। भीतरी समुदाय—प्रायः वे जिनमें लोग स्वेच्छा से सम्मिलित होते हैं—अपने सदस्यों पर ऐसे नियम लागू कर देते हैं कि जिन्हें वे तब कभी नहीं सहन करते जब कि उन्हीं नियमों को राज्य उन पर लागू करता। आज-कल निर्वाध वादविवाद इस भय के कारण नहीं हो पाता कि यदि वे किसी विषय में अपनी स्पष्ट सम्मति देंगे तो लोकप्रिय समाचार पत्र उनकी सम्मति को गलत उद्धृत कर देंगे अथवा उसको विकृत करके छाप देंगे। समाचार पत्र स्वयं भी इस भय के कारण पंगु बने हुए हैं कि यदि भारी संख्या में वितरित अथवा पढ़ा जाने वाला कोई समाचार पत्र साल-छः महीने तक किसी आलोकप्रिय दिशा में चलता रहे तो इसकी ग्राहक संख्या में इतनी कमी आ जायेगी कि इसकी विज्ञापन की आय घट जायेगी और समाचार पत्र का अस्तित्व तक संकट में पड़ जाएगा।

'आन लिबर्टी' शीर्षक निबन्ध का एक उज्ज्वल विषय मिल का यह कथन है कि मनुष्यों को बोलने और कृत्यों में कम स्वतंत्र, कानून ने नहीं अपितु अकथित मान्यताओं ने, परम्पराओं ने, प्रथाओं ने और समाज की

रूढ़ियों ने धनीया हुआ है। परन्तु वह यह बात नहीं समझा कि स्वतन्त्रता की माप : स्वयं समाज की भांति, समाज के उपसमुदायों के माध्यम से, क्यों करनी पड़ेगी। यदि स्वतन्त्रता शब्द का कुछ अर्थ है तो हमें उस सारी सामाजिक स्थिति का, जिसमें कि मनुष्य रहते हों, विश्लेषण करना होगा। इस कारण कि प्रत्येक मनुष्य की स्थिति दूसरे समुदायों के व्यक्तियों की स्थिति से कुछ-कुछ भिन्न होगी ही, किसी समाज को कितनी स्वतन्त्रता उपलब्ध है—इस विषय में कभी एकमत नहीं हो सकता।

मिल ने समाज की एक अखण्ड सत्ता मान कर लिखा। इसने समाज के घटक उपसमुदायों की भारी संख्या को महत्व नहीं दिया और इस लिए वह इस बात को नहीं समझ सका कि अधिसंख्य मनुष्य तो वे जिस उपसमुदाय के होते हैं उसमें घटित होने वाली घटनाओं के आधार पर अपने आपको स्वतन्त्र अथवा पीड़ित अनुभव करते हैं और यह अनुभव करते हैं कि समष्टि रूप से समाज उन पर जिन बाधाओं को लगाता है उनका सीधा महत्व कम है। उसने समाज पर और इसीलिए स्वतन्त्रता के एकत्व तथा उसकी अविभाज्यता पर बहुत अधिक बल दिया। हम इस बात को मिल से अधिक अनुभव करते हैं कि जो समुदाय व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उच्च मात्रा में उपभोग कर रहे होते हैं, वे सम्भवतः सामाजिक दृष्टि से अपने आपको इतना असुरक्षित समझते हों कि वे अपनी स्वतन्त्रता में कांट-छांट किया जाना स्वयं स्वेच्छा से स्वीकार कर लें। यह बात उन राष्ट्रीय समुदायों के विषय में तो निश्चय ही सत्य है कि जो यह अनुभव करते हैं कि उन पर कोई साम्राज्यवादी प्रधान स्वामी अत्याचार कर रहा है। ऐसे समुदाय, भले ही कानून तथा व्यवस्था और जीवन-निर्वाह के उच्च स्तर को परिणामभूत सभी प्रकार की स्वतन्त्रताओं का उपभोग क्यों न कर रहे हों, स्वेच्छा से इन स्वतन्त्रताओं की बलि चढ़ा देंगे, और अपने दृष्टिकोण के अनुसार 'स्वतन्त्र बनने के लिए ताना-शाही तथा निरपवाद आज्ञापालन पर आधारित किसी राजनीतिक व्यवस्था को स्वीकार कर लेंगे।

यह प्रश्न अवश्य आता है, क्योंकि पेन ने भी स्वतन्त्रता की बात की तब उसके मन में भी ठीक इसी प्रकार की स्थिति का नक्शा था। मिल ने इस बात को स्वीकार किया था कि स्वतन्त्रता के दो प्रकार हैं—उसने स्वतन्त्रता की महादेशीय विचारधारा तथा अंग्रेजी विचारधारा में भेद दिखलाया और बताया कि अंग्रेजों के विचार के अनुसार स्वतन्त्रता आवश्यक रूप से एक ऐसी वस्तु है कि जिसकी रक्षा सरकारों के आक्रमण से करनी ही पड़ेगी—वह सरकार भले ही प्रजातन्त्र अथवा अन्य किसी भी प्रकार की क्यों न हो। वह इस तथ्य से सर्वथा सहमत था कि स्वतन्त्रता से पूर्व स्वशासन की व्यवस्था का होना आवश्यक है, और वस्तुतः तो यह इसकी एक अंश ही है; परन्तु यह कहकर कि स्वतन्त्रता की वास्तविक समस्याएं तो तभी शुरू होती हैं, जबकि एक बार स्वशासन स्थापित हो जाता है—वह पेन से एक कदम आगे बढ़ गया है। और क्या हम कह सकते हैं कि वह गलती पर था ?

मिल ने जब अपना यह प्रसिद्ध निबन्ध लिखा था तब उसका यह स्वतन्त्रता-सिद्धान्त भी एक अर्थ में तो पुराने चलन का ही था। यह सिद्धान्त उस सिद्धान्त के समर्थन में तो अवश्य ही अन्तिम तथा सर्वोत्तम युक्ति था कि जिसने हॉब्स का, लॉक का और जहाज कर देने से इन्कार करने वाले जॉन हैम्पडन तक का भी समर्थन किया और जिसके अनुसार मनुष्य को इस रूप में तो स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता कि दूसरे मनुष्य उसको उसका अभीष्ट करने से रोक देते हैं। एक पीढ़ी से कम काल के भीतर ही इस सिद्धान्त को 'आक्सफोर्ड के उन आदर्शवादी' विचारकों ने चुनौती दे दी जिन्होंने स्वतन्त्रता के एक विपरीत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने जर्मनी के उन्नीसवीं सदी के उन दार्शनिकों की विचारधारा से प्रभावित होकर अपना सिद्धान्त स्थिर किया था कि जिन दार्शनिकों ने स्वतन्त्रता के उस विचार का प्रदिपादन किया था कि जिसको मिल ने स्वतन्त्रता की 'महादेशी' विचारधारा—नाम दिया था।

इन आदर्शवादियों ने भी, मिल की भांति यह प्रश्न उठाया कि मनुष्य

को स्वतन्त्र होने से कभी सी वस्तु रोकती है। इस प्रश्न का उत्तर यही था कि रोकने वाली यह वस्तु निश्चय ही कानून है। फिर प्रश्न हुआ कि क्या स्वयं मनुष्य ही कभी-कभी स्वतन्त्रता को नहीं रोकते? मनुष्यों ने चाहा—अथवा यदि वे बुद्धिमान् होते तो चाहते—कि इस प्रकार कर्म किया जाय कि प्रत्येक स्वतन्त्र रहे। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या कुछ करने के लिए स्वतन्त्र रहे? निश्चय ही, भला जीवन व्यतीत करने के लिए अपनी निजी पापमयी अथवा अपूरणीय इच्छाओं का दमन करने के लिए तथा अपनी निजी श्रेष्ठतर वृत्तियों की सिद्धि के लिए। स्वतन्त्र मनुष्य वह है कि जिसने यह बात समझ ली कि आत्मसाधना ही जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है और यह बात समझ ली कि आत्मसाधना उस अनुभूति से सर्वथा भिन्न अनुभूति है कि जिसको किसी निर्दिष्ट समय पर वह सिद्ध करना चाहे। यदि यह सिद्ध कर दिखाया जा सके कि जुआ खेलने से मनुष्य का या उसके परिवार का नाश हो सकता है और इससे वे भला जीवन व्यतीत करने में कम समर्थ हो सकते हैं तो निश्चय ही हम जुए को दूसरे वेहतर लक्ष्यों के सामने छोड़ देंगे; और ये लक्ष्य ऐसे ही होंगे कि जिनकी कोई दूसरा विवेकशील मनुष्य चाह रखता।

इस प्रकार मनुष्य के अभीष्ट तथा उसके कर्तव्य रूप में अभीष्ट में कोई संघर्ष हो ही नहीं सकता। यदि राज्य मुझे अपने कानूनों द्वारा जुआ खेलने से रुकने को विवश करता है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह मुझे पीड़ित कर रहा है; यह तो मुझे केवलमात्र वही कुछ करने में समर्थ बनाता है कि जिसको मैं तब करना चाहता जबकि मुझे सारे तथ्य ज्ञात होते। गेटे के प्रसिद्ध दुःखान्त नाटक में एग्मोंट पूछता है—“स्वतन्त्रता किसे कहते हैं?” निर्विकार परन्तु डरावने एल्वा का उत्तर है—“जो उचित है उसको करना।”

निवेधात्मक स्वतन्त्रता के मिल के सिद्धान्त को मानने से अथवा ऑक्सफोर्ड आदर्शवादियों की विधेयात्मक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को मानने से होने वाले परिणामों के विषय में बहुत लिखा गया है। विद्वान्

और हिटलर तथा वन्दीशिविरों के मार्ग पर चलना होता है। जर्मनों ने प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व आँख मीचकर राज्य की आज्ञाकारिता को उचित ठहराया था अथवा साम्यवादियों ने रूसी-स्वार्थ के अनुसार तोड़ी-मरोड़ी दल नीति की आज्ञाकारिता को उचित ठहराया था। परन्तु यह तर्क उपस्थित करना भी इतना ही है कि यूरोप में उदारतावाद को नष्ट करके फासिस्टवाद तथा साम्यवाद के लिए मार्ग प्रशस्त करने का काम कुलियों तथा पूंजीवादियों द्वारा इस प्रयोजन से, निषेधात्मक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर दृढ़ता से चिपके रहने ने किया, कि उनके अपने हित सुरक्षित रहें और द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले के पचास वर्षों में गरीबों के भाग्य में सुधार करने के सरकारी उपायों का विरोध किया जाता रहे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्रिटेन में विधेयात्मक स्वतन्त्रता की विचारधारा ने विचारशील उदारदलियों को शताब्दी के आरम्भ में यह मानने में समर्थ बनाया कि उदारतावाद की विचारधारा का व्यापार-संघों तथा सामाजिक सुरक्षा की विचारधारओं से मेल है और समाजवादियों को यह विमर्श उपस्थित करने योग्य बनाया कि एक वर्ग के विशेषाधिकारों में कटौती करने से तथा दूसरे वर्ग के विशेषाधिकारों में वृद्धि करने से दोनों वर्ग बेहतर जीवन बिताने लायक बन जाते हैं।

परन्तु जब दोनों में से किसी सिद्धान्त को मानने के परिणामों को छोड़कर दोनों में से किसी एक को चुन लेने के कारणों पर विचार करते हैं, तब तो मेरी सम्मति में, सब दोषों के होते हुए भी, मिल का सिद्धान्त अधिक श्रेष्ठ ठहरता है।

मिल ने स्वतन्त्रता का जो चित्र अपनी दृष्टि में रखा है उसका आधार इस विषय की कहीं अधिक परिशुद्ध धारणा है कि लोग समाज में वस्तुतः कैसा आचरण करते हैं। सभी मनुष्य एक से लक्ष्यों को नहीं चुनते हैं अथवा एकसे आदर्शों के पीछे नहीं चलते हैं—और, कुछ, भी हो इन्हीं विभिन्न लक्ष्यों और आदर्शों का समन्वय आत्मसाधना सरीखे किसी

भव्य संयुक्त वाक्य खण्ड में नहीं किया जा सकता । मतभेदों के अनेक
 आदर्श हैं और उनके केवल अच्छे-बुरे आदर्शों में ही परस्पर संघर्ष नहीं
 होता परन्तु अच्छे आदर्शों में भी परस्पर सामञ्जस्य नहीं स्थापित किया
 जा सकता । न्याय तथा दया में परस्पर विरोध है; व्यवस्था स्वतन्त्रता
 के, समानता न्याय तथा स्वतन्त्रता दोनों के विरुद्ध है । इत्यादि । जब
 दोनों आदर्शों का हम पर पूरा-पूरा दावा हो तो हम दोनों में से चुनाव
 कैसे करें ? इसकी रीति यह है कि जीवन के विषय में अपने आदर्श के
 सहारे हम चुनाव करें । परन्तु, हममें से प्रत्येक का दृष्टिचित्र—आदर्श—
 भिन्न-भिन्न है, इस कारण, समाज कभी इस बात पर एकमत नहीं होगा
 कि हम स्वतन्त्रता को सुरक्षा की बलिवेदी पर अथवा समानता को
 नेतृत्व की बलिवेदी पर ठीक-ठीक कहाँ तक चढ़ावें ! जीवन में अनेक
 मूल्य हैं; ऐसा कोई सर्वोच्च मूल्य नहीं है कि जिसकी अधीनता में शेष
 सभी को ले आया जाए ।

अब देखिए—मिल की क्या मान्यता थी तथा उसने कतिपय दूसरी
 मान्यताओं को क्यों कटु समझा और उनसे क्यों घृणा की—इस बात का
 वर्णन स्वयं मिल से अधिक स्पष्टता से और कोई नहीं कर सकता था ।
 और तो भी मिल के सम्मुख यह बात सर्वथा स्पष्ट है कि हमें बहुत सी
 मान्यताओं को सहन करना होगा, केवल उस मान्यता को ही नहीं कि
 जिसको कोई अकेला व्यक्ति या हम सभी समाज के लिए भलाई समझें;
 उदाहरण के लिए मिल को दूतक्रीड़ा से घृणा थी, परन्तु दांव लगाने के
 दूसरों के अधिकार की तो वह सम्भवतः बकालत ही करता । दूसरे शब्दों में,
 उसको 'बहुत्ववादी' समाज मान्य था । कई बातों में बहुत्ववादी समाज
 एकात्मक समाज से बहुत कम बलशाली होता है; और कुछ बातों में
 यह बहुत कम प्रभावशाली होता है । मिल कहता है कि लोगों को सदा
 प्रभावशाली युक्तियां देकर ही मनाना चाहिए और केवल कोई दूसरा
 उपाय शेष न रहने पर ही अन्त में बल-प्रयोग का आश्रय लेकर उनके
 बाधित करना चाहिए । प्रजातंत्री शासनप्रणाली का यह केन्द्रीय सिद्धान्त

है । और स्वतन्त्रता का यह प्रमुख सिद्धान्त है सम्भव है कि किन्हीं अवसरों पर इन सिद्धान्तों को दूसरे सिद्धान्तों के लिए छोड़ना पड़े, परन्तु मिल का विषय स्वतन्त्रता था और उसकी यह घोषणा ठीक ही थी कि बलप्रयोग स्वतन्त्रता का प्रतिपक्ष है ।

सम्भव है कि बलप्रयोग से मनुष्य कुछ अधिक स्वस्थ, अधिक सम्पन्न हो जाएं और उन्हें पहले से अच्छे वस्त्र तथा अच्छा भोजन मिलने लगे— वे सम्भवतः अधिक सुखी भी हो जाएं । परन्तु इससे वे कम स्वतन्त्र हो जाते हैं : इससे पूर्व कल तक वे जो कुछ कर सकते थे, आज वह वे नहीं कर सकते । यही कारण है कि मिल का निबन्ध मुझको सदा ईमानदारी का सारस्ताव प्रतीत होता है ।

Digitized by Arya Samaj Foundation, Chennai and eGangotri

इस विषय की पुस्तकों की संक्षिप्त सूची

प्लेटो

अनुवाद

‘दि रिपब्लिक’ अनु०—एफ० एम० कॉर्नफोर्ड ।

‘दि स्टेट्समैन’ ” जे० बी० स्केम्प ।

‘दि लॉज’ ” ई० व।० इंगलैण्ड ।

स्फुट विचार

आई० एम० क्रौम्बी : ‘प्लेटो’ ऑन मैन एण्ड सोसाइटी’
(प्रथम भाग)

एम० बी० कोस्टर : ‘पोलिटिकल फिलॉसोफीज ऑव प्लेटो एण्ड
हेगल’ ।

ए० ई० टेलर : ‘प्लेटो : दि मैन एण्ड हिज वर्क’ ।

आर० एल० नेटलशिप : ‘लेक्चर्स ऑन दि रिपब्लिक ऑव दि
प्लेटो’ ।

जी० जी० फील्ड : ‘प्लेटो एण्ड हिज कण्टेम्पॉरेरीज’ ।

के० आर० रौप्पर : ‘दि ओपन सोसाइटी एण्ड इट्स एनिमीज’ ।

अरस्तू

अनुवाद

‘दि पॉलिटिक्स’ अनु० वेंजामिन जोवेट; संशोधक—डब्ल्यू० डी० रोस ।

‘दि पॉलिटिक्स’ ” जे० ए० सिन्क्लेयर ।

‘दि एथिक्स’ जे० ए० के० थॉम्सन ।

स्फुट विचार

अर्नेस्ट बारकर : ‘दि पोलिटिकल थॉट ऑव प्लेटो एण्ड एरिस्टोटल’

जे० एल० मायर्स : ‘दि पोलिटिकल आइडियाज ऑव दि ग्रीक्स’ ।

वी० एल० न्यू मैत : 'दि पोलिटिक्स ऑव एरिस्टोटल' (प्रथम भाग
में आरम्भिक निबन्ध) ।

वी० डी० रौस : 'एरिस्टोटल' ।

'मास्टर्स ऑव पोलिटिकल थॉट' (प्रथम भाग)—'प्लेटो से मैक्या-
वेली तक', लेखक एम० वी० फौस्टर, अध्याय ३ 'एरिस्टोटल'
ए० सी० ब्रैडले—'हेलेनिका' में 'राज्य के विषय में अरस्तू की
धारणा' सम्पा० ईवलिन एवट ।

टी० ए० सिन्क्लेयर : 'ए हिस्ट्री ऑव ग्रीक पोलिटिकल थॉट',
अध्याय ११ ।

ए० एम० कॉर्नफोर्ड । 'बिफोर एण्ड आफ्टर सौक्रेटीज' ।

एक्विनैस

अनुवाद

'सेलेक्टेड पोलिटिकल राइटिंग्स ऑव सेण्ट थॉमस एक्विनैस'
सम्पा० 'ए० पी० डी०' एण्ट्रीव्स—अनु० जे० जी० डासन ।
'फिलोसोफिकल टैक्स्ट्स' अनु० थॉमस गिल्बी ।

स्फुट विचार

टो० गिल्बी—'प्रिसिपैलिटी एण्ड पोलिटी' ।

एफ० सी० कोपल्स्टन—'एक्विनैस' ।

ई० गिल्सन—'थोमिज्म' ।

'ए० पी० डी०' एण्ट्रीव्स—'दि मेडिविअल कॉन्ट्रिब्यूशन टु पोलिटिकल
थॉट' ।

सी० एच० मैकइल्वैन—'दि ग्रीथ ऑव पोलिटिकल थॉट इन दि
वेस्ट' ।

एफ० एम० वाट्किंस—'दि पोलिटिकल ट्रेडिशन ऑव दि वेस्ट' ।

मैक्यावली

अनुवाद

‘दि डिस्कोर्स’—ग्रनु० जे० वाकर ।

‘दि प्रिंस’—ग्रनु० डब्ल्यू० के० मैरिअट ।

‘दि हिस्ट्री ऑव फ्लोरेंस’—ग्रनु० ऐलन एच० गिलवर्ट ।

स्फुट विचार

सर्वोत्तम स्फुट विचार फादर वाकर्स-कृत ‘डिस्कोर्स’ के ग्रनुवाद की भूमिका में प्रकट किए गए हैं ।

‘मैक्यावली : सिनिक, पैट्रिअट एण्ड सोशल साइन्टिस्ट’ सम्पा० डी लामेर जेनसेन—इसमें मैक्यावली के ग्रध्वताग्रों में से कई प्रमुख विचारकों के लेख संगृहीत हैं ।

इनको भी देखिए :

जे० एच० ह्वाइटफील्ड : ‘मैक्यावली’ ।

एच० वटर फील्ड : ‘दि स्टेट कैप्ट ऑव मैक्यावली’ ।

डोरोथी ई० म्यूअर : ‘मैक्यावली’ ।

ए० एच० गिलवर्ट : ‘मैक्यावली’ ज प्रिंस ।

एल० स्ट्राँस : ‘थाट्स ऑव मैक्यावली’ ।

हॉब्स

मूलग्रन्थ

‘दि लेवाइथेन’ : सम्पा०—एम० ओकेशौट ।

‘बॉडी, मैन एण्ड सिटिजन’ : सम्पा०—आर० एस० पीटर्स ।

‘डी काइव’ : सम्पा०—एस० पी० लैम्प्रेख्ट ।

‘दि इंगलिश वर्क्स’ : सम्पा०—सर डब्ल्यू० मोल्सवर्थ ।

समीक्षाएं

‘लेवाइथेन’ के तर्क की संक्षिप्त तथा सारगर्भित समीक्षा हॉब्स ने ‘दि एलिमेन्ट्स ऑव ला’ में की है (सम्पा० एफ़० टोनीज़) । जी० सी०

रावटसन् द्वारा रचित 'हॉब्स' (१८८६) में कई प्रकार से सर्वोत्तम सामान्य परिचय दिया गया है। आर० एस० पीटर्स रचित 'हॉब्स' एक अधिक अभिनव परिचय है। एस० आर० मिल्ज़ ने 'दि हंटिंग ऑव लेवाइथेन' में हॉब्स की नैतिक तथा दार्शनिक विचारधाराओं के प्रति उसके समकालीनों की प्रतिक्रिया का विश्लेषण दिया है। हॉब्स के नैतिक तथा राजनीतिक दृष्टिकोण की अधिक स्पष्ट व्याख्या लिओ स्टार्स की पुस्तक 'दि पोलिटिकल फिलोसॉफी ऑव हॉब्स' में की गई है; 'रेशनलिज़्म इन पोलिटिक्स' के 'दि मॉरल लाइफ़ इन दि राइटिंग्स ऑव थॉमस हाब्स' शीर्षक से एम० ओकेशॉट ने दी है और होवार्ड वारेन्डर की पुस्तक 'दि पोलिटिकल फिलोसॉफी ऑव हॉब्स' में भी दी गई है। 'हॉब्स स्टडीज़' (सम्पा०—के० ब्राउन) में हाल के लेखों का सुन्दर संग्रह किया गया है।

लॉक

मूलग्रन्थ

'टू ट्रीटाइजेज़ ऑव सिविल गवर्नमेंट' : सम्पा०—पी० लैस्लेट ।

'लैटर्स फॉर टॉलरेशन' : सम्पा०—जे० डब्ल्यू० गफ़० ।

'लॉक एण्ड लिबर्टी' : (लॉक की रचनाओं से संगृहीत);

सम्पा०—एम० सैल्वेडोरी ।

'ऐसेज़ ऑन लां ऑव नेचर' : सम्पा०—डब्ल्यू वौन लीडन ।

स्फुट विचार

एम० क्रैस्टन : 'जॉन लॉक' ।

जे० डब्ल्यू गफ़० : 'लॉक'स पोलिटिकल फिलॉसॉफी' ।

एस० लैम्प्रेख्ट : 'मॉरल एण्ड पोलिटिकल फिलॉसॉफी ऑव जॉन लॉक' ।

आर० आई० आर० : 'जॉन लॉक' ।

डी० जे० ओ'कौनर : 'लॉक' ।

आर० एच० कौक्स : 'लॉक ऑन वार एण्ड पीस' ।

अनुवाद

“दि सोशल कन्ट्रैक्ट” : अनु०—जी० डी० एच० कोल ।

‘दि डिस्कोर्स ऑन इनइक्वालिटी’ : अनु०—जी० डी० एच० कोल

‘पोलिटिकल राइटिंग्स’ : सम्पा०—एफ० एम० वार्ट्किंस ।

स्फुट विचार

रोनैल्ड ग्रिम्सले : “जीन-जेक्वेस रूसो” ।

ई० कैस्सिएर : “दि क्वेश्चन ऑव जे० जे० रूसो” ।

ई० एम० राइट : “दि मीनिंग ऑव रूसो” ।

एफ० सी० ग्रीन : “रूसो” ।

सी० डब्ल्यू हेंडल : ‘जे० जे० रूसो : मौरलिस्ट’ ।

ए० कौवन : ‘रूसो एण्ड दि मॉडर्न स्टेट’ ।

इसको भी देखिए

वी० द० जोवेनेल : ‘इस्सि सुर ला पोलिटिक रूसो’ ।

बर्क

मूल पुस्तक

“वक्स” : (६ खण्ड : वर्ल्ड्स क्लासिकल एडिशन) ।

‘दि फिलोसॉफी ऑव एडमंड बर्क’ : बर्क के लेखों का संग्रह

सम्पा०—एल० ब्रेडवोल्ड तथा आर० रौस ।

समीक्षाएं

सी० पार्किन : ‘दि मौरल बेसिस ऑव बर्क’स पोलिटिकल थॉट’

पी० जे० स्टैनलिस : ‘एडमंड बर्क एण्ड मेचुरल ला’ ।

जे० मैककन : ‘दि पोलिटिकल फिलोसॉफी ऑव बर्क’ ।

ए० कौकन : ‘एडमंड बर्क एण्ड रिवोल्ट अगेंस्ट एट्रोन्थ सेंचुरी’ ।

सी० वी० कोन : 'बर्क एण्ड दि नेचर ऑव पोलिटिक्स' ।

जे० मौलें : 'बर्क' ।

हेगल

मूल ग्रन्थ : 'ग्रण्डलिनिनियन डर फिलोसॉफी डेस रेस्ट्स'

हेगल का मूल ग्रन्थ "ग्रण्डलिनिनियन डर फिलोसॉफी डेस रेस्ट्स" है । इसका सर्वोत्तम अंग्रेजी अनुवाद टी० एम० नौक्स द्वारा अनूदित तथा व्याख्यात 'दि फिलोसॉफी ऑव राइट' है । हेगल के अंग्रेजी में जी० ई० म्युएलर द्वारा अनूदित तथा व्याख्यात 'एन्साइक्लोपीडिया ऑव फिलोसॉफी' में भी नागरिक समाज तथा राज्य पर लिखा गया है । फिलोसॉफी ऑव हिस्ट्री का एक अंग्रेजी अनुवाद जे० सिब्री ने किया है ।

समीक्षायें

एम० वी० फोस्टर : 'दि पोलिटिकल फिलोसॉफी ऑव प्लेटो एण्ड हेगल' ।

एम० मारक्यूस : 'रीजन एण्ड रेवोल्यूशन : हेगल एण्ड राइट ऑव सोशल थ्योरी' ।

के० आर० पौप्पर : 'दि ओपन सोसाइटी एण्ड इट्स एनिमीज' (२ भाग) । (पुनरावृत्ति) । इस पुस्तक में प्लेटो तथा मार्क्स पर भी विचार किया गया है । हेगल की राजनीतिक विचारधारा की एक कटु आलोचना है ।

एच० ए० रेवर्न : 'दि एमिकल थ्योरी ऑव हेगल' : ए स्टडी ऑव दि फिलोसॉफी ऑव राइट' (११ से १३ तक के अध्याय विशेष रूप से प्रसंगोचित हैं) ।

निम्न पुस्तकों में सम्बद्ध अध्याय भी देखिए :

जे० एन० फिडले : 'हेगल : ए रिएक्जामिनेशन' ।

डब्ल्यू० टी० स्टेट : 'दि फिलोसॉफी ऑव हेगल' ।



मूल ग्रन्थ

‘कैपिटल’

‘बेसिक राईडिंग्स’ : सम्पा०—एल० एस० म्यूअर ।

‘मैनिफेस्टो ऑव दि कम्यूनिस्ट पार्टी’ : सम्पा०—लस्की ।

‘क्रिटिसिज्म ऑव पोलिटिकल इकोनॉमी’ ।

‘कॉलेक्टेड वर्क्स’ : (मार्क्स-लेनिन इंस्टिट्यूट, मास्को द्वारा प्रकाशित)

समीक्षायें

जे० पी० प्लैमेंटज़ — ‘जर्मन मार्सिज्म एण्ड रशियन कम्यूनिज्म’ ।

एच० बी० एक्टन — ‘दि इल्यूजन ऑव दि० एपक’ ।

ए० सी० मैकइंटायर — ‘मार्क्सिज्म : एन इण्टरप्रेटेशन’ ।

आइ० वलिन — ‘कार्ल मार्क्स’ ।

आर० टकर — ‘फिलौसॉफी एण्ड मिथ इन मार्क्स’ ।

जी० लिचथीम — ‘मार्क्सिज्म’ ।

ई० फ्रीम — ‘मार्क्स कन्सेप्ट ऑव मैन’ ।

मिल

मूल ग्रन्थ

‘ऑन लिबर्टी’ — सम्पा०—आर० बी० मैककैलम ।

‘रिप्रेजेंटेटिव गवर्नमेण्ट’ — सम्पादक—आर० बी० मैककैलम ।

‘अलियर लैटर्स’ — सम्पा०—फ्रांसिस माइनेका ।

‘युटिलिटेरियनिज्म’ — सम्पा०—जे० प्लैमेनात्ज ।

‘पोलिटिकल इकोनॉमी’ — सम्पा० डब्ल्यू० जे० एश्ले

‘एजेज ऑन पोलिटिक्स एण्ड कल्चर’ — सम्पा०—गरट्रूड हिमेलफार्ब

समीक्षायें

के० ब्रिटिन : ‘जे० एस० मिल’ ।

आर० पा० एन्गुट्ज : 'दि फिलोसोफी अवि जे० एस० मिल' ।

एम० कैस्टन : 'जे० एस० मिल' ।

जे० सी० रीज : 'मिल एण्ड हिज अर्ली क्रिटिक्स' ।

एफ० हायेक : 'जे० एस० मिल एण्ड हैरियट टेलर' ।

जे० प्लेमेनार्त्ज : 'दि इंग्लिश युटिलिटेरियन्स एण्ड मैन एण्ड सोसाइटी' ।

(दूसरा भाग)



